॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

जाग्रत्-सुषुप्ति

[परमश्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजके मार्मिक प्रवचनोंका संग्रह]

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

'हे प्रभो! आप ही मेरी माता हो, आप ही पिता हो, आप ही बन्धु हो, आप ही सखा हो, आप ही विद्या हो, आप ही धन हो। हे देवदेव! मेरे सब कुछ आप ही हो।'

संकलन तथा सम्पादन—

राजेन्द्र कुमार धवन

गीता प्रकाशन,
कार्यालय—माया बाजार, पश्चिमी फाटक,
गोरखपुर—273005 (उ०प्र०)
फोन—09389593845; 07668312429
e-mail: radhagovind10@gmail.com

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

विषय-सूची

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

जाग्रत्-सुषुप्ति

१. जाग्रत्-सुषुप्ति

श्रोता—'साधक-संजीवनी' में आपने कहा है कि जीव कहीं आता-जाता नहीं, वह अचल, स्थाणु और सनातन है—'**नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः**' (गीता २। २४), फिर चौरासी लाख योनियोंमें कौन आता-जाता है?

स्वामीजी—इस विषयको ठीक तरहसे समझो। तत्त्वमें वास्तवमें क्रिया नहीं है। क्रिया और पदार्थ दोनों प्रकृतिमें हैं। एक प्रकृति है और एक पुरुष है—'**प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि**' (गीता १३। १९)। क्रिया और पदार्थ प्रकृतिमें ही हैं, पुरुषमें नहीं हैं। पुरुषमें न क्रिया है, न पदार्थ है। क्रिया भी नित्य नहीं होती और पदार्थ भी नित्य नहीं होता; परंतु आत्मा नित्य है।

अपरा प्रकृति आठ प्रकारकी है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

(गीता ७। ४-५)

'पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश (—ये पंचमहाभूत) और मन, बुद्धि तथा अहंकार—इस प्रकार यह आठ प्रकारके भेदोंवाली मेरी यह अपरा प्रकृति है; और हे महाबाहो! इस अपरा प्रकृतिसे भिन्न जीवरूप बनी हुई मेरी परा प्रकृतिको जान, जिसके द्वारा यह जगत् धारण किया जाता है।'

'अहम्' अपरा प्रकृति है। जीव जब अपरा प्रकृतिके अहम्को पकड़ लेता है, तब उस अहम्की गति होती है। अपरा प्रकृति स्वतः-स्वाभाविक गतिशील है। वह एक क्षण भी क्रियाके बिना नहीं रहती; परंतु पुरुषमें क्रिया होती ही नहीं। यह दोनोंमें बड़ा भारी अन्तर है! चौरासी लाख योनियोंमें जानेपर भी वास्तवमें उसमें क्रिया नहीं है। परंतु उसने अहंकारके साथ अपनी एकता कर ली। अहंकारके साथ एकता होनेसे उसकी सम्पूर्ण अपरा प्रकृतिके साथ एकता हो गयी! अहंकारमें होनेवाली विकृतिको वह अपनी विकृति मानता है। वास्तवमें आप अहम् नहीं हो—'**निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति**' (गीता २। ७१)। आप स्वयं निर्मम-निरहंकार हो।

गाढ़ नींदमें, मूर्च्छामें और समाधिमें अहम् नहीं रहता। इनमें अहम्का अभाव नहीं होता; किंतु अहम् अविद्यामें लीन हो जाता है। अतः आपको अहंकारसे रहित होनेका अनुभव है। गाढ़ नींदसे जगनेपर आप कहते हो कि 'मैं सुखसे सोया था, मेरेको कुछ पता नहीं था'। परंतु 'कुछ पता नहीं था'—यह तो पता है ही! यह बहुत मार्मिक बात है, पर कठिन नहीं है; जैसे—घरके बाहरसे आवाज आयी कि कोई आदमी घरमें है? तो भीतरसे आवाज आयी कि घरमें कोई नहीं है, तो 'कोई नहीं है'—यह कहनेवाला तो है ही! ऐसे ही गाढ़ नींदमें 'मेरेको कुछ पता नहीं था'—यह कहनेवाले आप थे, पर अहंकार वहाँ नहीं था। वहाँ मन-बुद्धि भी नहीं थे। यह कहने-सुननेकी बात नहीं है। इस बातका आप खुद अनुभव करो। नींदसे जगनेपर अपनी सत्ताका अनुभव होता है कि जैसे नींदसे पहले भी मैं था और नींदसे जगनेके बाद भी मैं हूँ, ऐसे

ही नींदमें भी मैं था। इस तरह आप सब समय रहते हो। अहंकारके साथ एकता माननेसे आप जन्मते-मरते हो।

आप कहते हो—'मैं हूँ', तो इसमें 'मैं' अहंकारका वाचक है और 'हूँ' सत्ताका वाचक है। जैसे 'तू है', 'यह है', 'वह है'—इनमें 'है' है, ऐसे ही 'मैं हूँ' में जो 'हूँ' है, वह भी वास्तवमें 'है' ही है। तात्पर्य है कि आप अहंकाररूप नहीं हो। आपने 'मैं' को अपना स्वरूप मान लिया तो 'मैं' के साथ एक हो गये, जिससे 'मैं हूँ' हो गया। उसके साथ भेदका सम्बन्ध मान लिया तो 'मेरा है' हो गया। *['मैं हूँ'—यह अभेदभावका सम्बन्ध है, और 'मेरा है'—यह भेदभावका सम्बन्ध है।]* निर्मम-निरहंकार अर्थात् 'मैं-मेरा' से रहित होनेपर शान्तिकी प्राप्ति होती है—'**निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति**' (गीता २। ७१)।

बहुत-से भाई-बहन कहते हैं कि 'मैं क्या हूँ'—इसका पता नहीं लगता। इसका कारण यह है कि आप जैसे दूसरी चीजोंको इदंतासे देखते हैं, ऐसे ही स्वयंको भी इदंतासे (यह मैं हूँ—इस तरह) देखना चाहते हैं। इदंतासे देखनेसे अनुभव नहीं होता। आजकल जितनी पढ़ाई होती है, उसमें अपना स्वरूप भी इदंतासे, ब्रह्म भी इदंतासे, ईश्वर भी इदंतासे, प्रकृति भी इदंतासे देखकर पढ़ते हैं! पूरे वेद पढ़ जाओ, शास्त्र पढ़ जाओ, यह बात रहेगी! वास्तवमें आप इदंतासे नहीं हैं, आप स्वयं हैं। **आपका स्वरूप है—'है', होनापन, सत्ता**। आपका स्वरूप न अच्छा है, न मन्दा है; न भला है, न बुरा है; न अनुकूल है, न प्रतिकूल है, प्रत्युत केवल एक सत्ता—'है' अथवा होनापन है। इसका स्पष्ट विवेचन आता नहीं! 'है' में अनुकूलता-प्रतिकूलता कैसे होगी? वह 'है' आपका स्वरूप है।

आप अहंकारके साथ मिल जाते हो तो अहंकारका रूप हो जाते हो। इसको तादात्म्य कहते हैं। जैसे लोहेको अग्निपर तपाया जाय तो लोहा और अग्नि एक हो जाते हैं। फिर कहते हैं कि लोहेसे मेरा हाथ जल गया! वास्तवमें हाथ लोहेसे नहीं जलता, प्रत्युत अग्निसे जलता है। इसी तरह आप स्वयं अपनी सत्ताको अहंताके साथ मिला लेते हैं तो 'मैं हूँ' हो जाता है। **वास्तवमें 'मैं' अलग है और 'हूँ' अलग है। आप केवल सत्ता हैं। यह साधकके लिये बहुत कामकी चीज है! केवल सत्तामात्र, होनापन......है.......**। 'है' न अनुकूल है, न प्रतिकूल है, न ठीक है, न बेठीक है, न बढ़िया है, न घटिया है। 'है' में क्या बढ़िया और क्या घटिया?

एक दिन मैंने कहा था कि यह घड़ी है, यह वस्त्र है, यह वृक्ष है, यह थम्भा (खम्भा) है, यह मनुष्य है, यह पशु है, यह पक्षी है—ऐसा न मानकर आप मानो कि है घड़ी, है वस्त्र, है वृक्ष, है थम्भा, है मनुष्य, है पशु, है वृक्ष, तो 'है' मुख्य रहेगा। वह 'है' सबके साथ रहेगा। वह 'है' अर्थात् सत्ता आपका स्वरूप है। उसमें आना-जाना नहीं होता। परंतु उसके साथ जो अहम् मिला हुआ है, वह अहम् आता-जाता है, और उस अहम्‌के साथ आप आते-जाते हो। अहम्‌के सम्बन्धके बिना जन्म-मरण नहीं होता। अहम् मिटनेपर ब्राह्मी स्थिति होती है—'**एषा ब्राह्मी स्थितिः**' (गीता २। ७२)। **'मैं हूँ' न रहे, केवल 'है' रहे। 'है' में जन्म-मरण नहीं होता। केवल है.....है.....है!! वह 'है' आपका स्वरूप है।** उस 'है' में क्या लाभ, क्या हानि? 'है' में कोई व्यक्ति नहीं है। 'है' में कोई गति नहीं है, आना-जाना नहीं है, जन्मना-मरना नहीं है। जन्म-मरण 'मैं' में होता है।

आप कोई भी काम करते हैं तो अहंकारको लेकर करते हैं। जाग्रत् और स्वप्नमें जितने काम होते हैं, सब अहंकारसे होते हें। केवल सुषुप्तिमें आप अहंकारके बिना होते हैं। सुषुप्तिकी तरह आप जाग्रत्‌में हो जायँ अर्थात् अवस्था तो जाग्रत् है, पर संसारकी कोई स्फुरणा नहीं है। ऐसी स्फुरणारहित अवस्था जाग्रत्‌की सुषुप्ति है। जाग्रत्‌की सुषुप्ति बहुत लाभदायक है! जैसे सुषुप्तिमें कुछ भी याद नहीं रहता, ऐसे ही जाग्रत्‌में

सुषुप्ति हो जाय। 'मैं हूँ' न रहे, केवल 'है' रहे। इस तरह जाग्रत्‌में सुषुप्ति हो जाय तो तत्त्वका अनुभव हो जायगा!

वह 'है' अनन्तकालसे है। उस 'है' में कभी फर्क पड़ता ही नहीं, कभी कमी आती ही नहीं, कभी वृद्धि होती ही नहीं। उसमें कोई विकार होता ही नहीं। 'मैं' होनेसे 'हूँ' हो जाता है। 'मैं' से रहित होनेसे वह 'है'।

श्रोता—जाग्रत्‌में सुषुप्ति कैसे प्राप्त हो?

स्वामीजी—जाग्रत्‌में सुषुप्ति कैसे हो? क्या करूँ? कैसे करूँ?—केवल यह इच्छा बढ़ जाय तो प्राप्त हो जायगी। **पारमार्थिक उन्नति केवल इच्छासे होती है!** खाते-पीते, चलते-फिरते एक ही धुन लग जाय कि जाग्रत्‌में सुषुप्ति कैसे हो!

श्रोता—यह इच्छा तो बहुत सालोंसे है, फिर भी हो नहीं रहा है!

स्वामीजी—असली इच्छा नहीं है! जाग्रत्-सुषुप्तिकी बात सुन करके लोभ होता है कि हम भी ऐसे हो जायँ! यह नहीं होकर खुदकी, भीतरकी लालसा हो जाय।

श्रोता—आपकी बात भी सुनता हूँ, मनन भी करता हूँ, विचार भी करता हूँ, फिर भी स्थिति नहीं हो रही है!

स्वामीजी—यह लगन लग जाय कि कैसे हो? क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? किससे पूछूँ? जाग्रत्‌में सुषुप्ति कैसे हो जाय? यह भीतरसे लगन हो जाय, नकली नहीं!

केवल लालसा हो। शरीरकी परवाह नहीं। शरीर हो चाहे मत हो, कोई परवाह नहीं। मेरी सत्ता 'होनापन' है। 'होनापन'—इसमें 'पन' भाव है। आप व्याकरण पढ़े नहीं हैं, नहीं तो मैं व्याकरणसे समझा दूँ। **कम-से-कम आप मान लें कि शरीरके सिवाय आप हैं**। पहले मानना पड़ता है, पीछे अनुभव हो जाता है। पहले ही अनुभव हो जाय—ऐसा कभी नहीं होगा। शरीर प्रतिक्षण बदलता है, आप वही रहते हो। आप चौरासी लाख योनियोंमें गये, फिर मनुष्यशरीरमें आ गये। मनुष्यशरीर छूट गया, फिर दूसरी जगह चले गये। आप वे-के-वे ही रहते हैं, पर शरीर एक क्षण भी एकरूप नहीं रहता। आपकी सत्ता महाप्रलय और महासर्गमें भी नहीं बदलती, ज्यों-का-त्यों रहती है। जैसे हम पंडालमें बैठे हैं तो शरीर अलग है, पंडाल अलग है, ऐसे ही हम अलग हैं, शरीर अलग है। बालकपनमें भी मैं था, जवानीमें भी मैं था और वृद्धावस्थामें भी मैं हूँ। मैं तीनों अवस्थाओंमें हूँ, पर अवस्थाएँ अलग-अलग हैं। शरीर तथा उसकी अवस्थाएँ बदलती हैं, आप नहीं बदलते। इससे बढ़कर और मैं क्या बताऊँ? शरीर एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता, और महाप्रलय तथा महासर्ग हो जाय तो भी आपमें किंचिन्मात्र भी फर्क नहीं पड़ता! गीताजी कह रही है—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥

(गीता १३। ३१)

'हे कुन्तीनन्दन! यह (पुरुष स्वयं) अनादि होनेसे और गुणोंसे रहित होनेसे अविनाशी परमात्मस्वरूप ही है। यह शरीरमें रहता हुआ भी न करता है और न लिप्त होता है।'

श्रोता—ये सब बातें समझमें आती हैं, इनमें कोई शंका भी नहीं है, फिर बाधा कहाँ लग रही है?

स्वामीजी—संयोगजन्य सुख चाहते हो! उस सुखको आप त्याग नहीं सकते। जहरके लड्डुओंका स्वाद आप नहीं छोड़ सकते, जहर आपको नहीं छोड़ सकता!

श्रोता—सुखकी इच्छा कैसे छूटे?

स्वामीजी—कैसे छूटे? क्या करूँ? कैसे करूँ?—यह बात हरदम जाग्रत् रखो।

आपका शरीर आपके साथ रहेगा क्या? आप शरीरके साथ रहोगे क्या? बस, इतनी बात समझ लो कि शरीर अलग है, आप अलग हैं। जन्म-मरणमें शरीर नहीं जाता, अहम्‌के सहित आप जाते हो। आप अहम्‌से रहित हो—यह समझना आपके लिये जरूरी है। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिमें अहम् नहीं रहता, पर आप रहते हो। **आपको कभी नींद आती ही नहीं! आप कभी बेहोश होते ही नहीं!** सत्ता अर्थात् होनापन आपका स्वरूप है। वह होनापन न अच्छा है, न मन्दा है। उसमें न अनुकूलता है, न प्रतिकूलता है, न राग है, न द्वेष है, न हर्ष है, न शोक है, न चिन्ता है, न उद्वेग है, न भय है। केवल होनापन......'है' है। **आप केवल सत्तारूपसे हो—इतना समझमें आ गया तो बहुत काम हो गया!**

श्रोता—पर बचा हुआ काम कब पूरा होगा?

स्वामीजी—उस सत्तामें कुछ मिलाओ नहीं, तब होगा। **केवल सत्ता, उसमें कुछ भी मिलाओ मत।** पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, कुछ भी मिलाओ मत। वास्तवमें सत्तामें कुछ मिल ही नहीं सकता; क्योंकि अन्यकी सत्ता है ही नहीं! कोई भी चीज मिलाओ तो उसकी सत्ता नहीं है! उस सत्तामें आप अभी-अभी चुप हो जाओ। आपका केवल होनापन है। होनापनके सिवाय कुछ नहीं है। इससे बढ़कर सुगम और क्या होगा?

आपके साथ मन नहीं रहता, बुद्धि नहीं रहती, इन्द्रियाँ नहीं रहतीं, शरीर नहीं रहता, पदार्थ नहीं रहते, कुछ भी नहीं रहता। आपका 'होनापन' है, पर मन, बुद्धि आदिका 'होनापन' नहीं है, प्रत्युत इन सबका 'नहीं होनापन' है। मन, बुद्धि, अहंकार, शरीर, प्राण आदि कोई आपका स्वरूप नहीं है। आपका स्वरूप केवल 'होनापन' है। 'होनापन' में कोई भी चीज मिली हुई नहीं है। इस **'होनापन' में आपकी स्थिति जाग्रत्‌में सुषुप्ति है। 'होनापन' मेरा स्वरूप है—इस होनेपनको आप जोरसे पकड़ लो।** इस होनेपनमें आप स्थिर रहो। होनेपनके साथ आप जिसको मिलाओगे, वह भी वैसा दीखने लग जायगा! शरीरको मिलाओगे तो शरीर नाशवान् नहीं दीखेगा, प्रत्युत अविनाशी दीखेगा!

हरेकके साथ होनापन ही मिलेगा, और क्या मिलेगा? मैं खाता हूँ, मैं पीता हूँ, मैं जाता हूँ, मैं आता हूँ आदिके साथ होनापन ही मिलता है। अगर किसीके साथ मिले नहीं तो केवल 'है' ही रहेगा। 'है' न खाता है, न पीता है, न जाता है, न आता है। इस 'है' अर्थात् सत्तामें कोई विकृति कभी आ सकती ही नहीं। होनापन ज्यों-का-त्यों रहता है। इसको किसीके साथ मिलाओ मत। यह हरेकके लिये बड़ी सीधी-सरल बात है!

श्रोता—पर यह सत्ता बुद्धिसे समझमें आ रही है?

स्वामीजी—कोई हर्ज नहीं। बुद्धि छूट जायगी। इसको पहले आप बुद्धिसे ही समझोगे; क्योंकि समझनेके लिये बुद्धिसे सूक्ष्म आपके पास कोई तत्त्व नहीं है। होनापन तो रहेगा, पर बुद्धि नहीं रहेगी। होनेपनमें आप स्थित हो जाओ तो बुद्धि छूट जायगी।

श्रोता—इतनी सुगम बात सुनकर भी अनुभव नहीं होता तो निराशा होती है!

स्वामीजी—निराश मत होओ। इससे निराश कभी होना ही नहीं चाहिये। यह तो मनुष्यमात्रके लिये सिद्ध होनेवाली बात है! संसारका काम सिद्ध होता भी है, नहीं भी होता, दोनों बातें होती हैं, पर यह सिद्ध ही होता है, असिद्ध होता ही नहीं। इसमें हार होती ही नहीं, जीत ही होती है।

आप एक 'है' में स्थित रहो। घण्टा-आध घण्टा स्थित रहो, फिर देखो!! बहुत लाभ होगा! मिनट-दो मिनट स्थित होकर देखो, आपको खुदको रस आयेगा, आनन्द आयेगा! इसमें कठिनता क्या है! **अपने-आपमें स्थित होनेमें क्या कठिनता?**

आप 'है' में स्थित हो जाओ, सब ठीक हो जायगा। आप खुद मस्त हो जाओगे!! 'है' में सब एक हैं। आप जितने बैठे हैं, स्त्री हो, पुरुष हो; ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो, शूद्र हो; हिन्दू हो, मुसलमान हो, ईसाई हो, यहूदी हो, पारसी हो, कोई भी हो, 'है' में सब एक हैं। 'है' न हिन्दू है, न मुसलमान है। 'है' में न श्रवण है, न मनन है, न निदिध्यासन है; न ध्यान है, न समाधि है; न सविकल्प है, न निर्विकल्प है; न सबीज है, न निर्बीज है; कुछ नहीं है! यह समाधिसे भी ऊपर है! समाधिका भी फल है!

'है' में स्थित होनेके लिये आप यह वृत्ति रखो कि हरेकका दुःख दूर हो। आपको कोई दुःखी दीखे तो अपनी शक्तिके अनुसार उसका दुःख दूर करो तो इसमें स्थिति हो जायगी। ध्यान, समाधि करनेकी जरूरत नहीं। श्रवण-मनन-निदिध्यासन करना लम्बा रास्ता है। यह सीधा रास्ता है। आपलोगोंके लिये यह बड़ी सीधी-सरल बात है। अभी आप जितने बैठे हैं, हरेक भाई-बहन मान ले कि एक 'है'........!!

श्रोता—स्वरूप सीमित है या असीम?

स्वामीजी—न सीमित है, न असीम है; दोनों ही नहीं है। सीमा है ही नहीं, फिर असीम कैसे कहें? सीमित होनेकी अपेक्षा असीम कहते हैं। 'असीम' सापेक्ष शब्द है। स्वरूप निरपेक्ष है, सापेक्ष नहीं है। वह न सीमित है, न असीम है; न ठीक है, न बेठीक है; न अच्छा है, न मन्दा है; कुछ नहीं है, केवल 'है'। जो सीमित मानता है, उसको समझानेके लिये, उसकी सीमित बुद्धिको मिटानेके लिये स्वरूपको असीम कह देते हैं।

[अधिक ज्येष्ठ कृष्ण ११, वि०सं० २०५६, दिनांक १०.६.१९९९ को सायं ४ बजे, गीताभवन, स्वर्गाश्रम, ऋषिकेशमें दिये गये प्रवचनसे]

***

२. जाग्रत्में जागृति

जाग्रत्-सुषुप्ति क्या है? हमारे जागते हुए भी न तो मनसे कुछ चिन्तन है, न हमारी वृत्ति बाहर देखनेकी है तो यह जाग्रत्-सुषुप्ति है। जैसे गाढ़ नींद (सुषुप्ति)-में कुछ भी याद नहीं रहता, कुछ भी दीखता नहीं, कुछ भी करता नहीं, ऐसी स्थिति जाग्रत्-अवस्थामें ही हो जाय। न बाहर वृत्ति, न भीतर वृत्ति, न याद करना, न देखना, न सुनना आदि कुछ नहीं हो तो यह जाग्रत्-सुषुप्ति है। अगर जाग्रत्-सुषुप्ति हो जाय तो परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जाय!

क्या जाग्रत्-सुषुप्ति हरदम रह सकती है? जब परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, तब स्वाभाविक ही संसारके साथ सम्बन्ध नहीं रहता। तब वह जाग्रत्-सुषुप्ति क्या, 'जाग्रत्में जाग्रत्' हो गया अर्थात् स्वरूपमें जाग्रत् हो गया! उससे पहले जाग्रत्-सुषुप्ति है, जिसमें संसारकी तरफ कोई वृत्ति नहीं रहती। वास्तवमें यह जाग्रत्-सुषुप्ति नहीं है, प्रत्युत 'जाग्रत्में जाग्रत्' है। उसमें एक सच्चिदानन्दघन तत्त्व परिपूर्ण है, जिसके सिवाय

कुछ था नहीं, है नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं। ऐसा 'जाग्रत्-जाग्रत्' जाग्रत्-सुषुप्तिका फल है। वह जागृति हरदम रहती है। स्वप्न, सुषुप्ति तो अन्तःकरणमें होती है, पर स्वरूपमें स्वतः हरदम जागृति रहती है।

'जाग्रत्-सुषुप्ति' साधन है और 'जाग्रत्-जाग्रत्' साध्य है। साध्यकी प्राप्ति होनेपर 'जाग्रत्-सुषुप्ति' नहीं रहती, प्रत्युत उसका फल रहता है अर्थात् एक परमात्माके सिवाय कोई सत्ता नहीं रहती। उस महापुरुषके अन्तःकरणमें अन्तःकरणसहित सब संसारका अत्यन्त अभाव रहता है, और तत्त्व ज्यों-का-त्यों रहता है।

परमात्मतत्त्वकी जो प्राप्ति है, वह नित्यप्राप्तकी प्राप्ति है, और संसारकी निवृत्ति नित्यनिवृत्तकी निवृत्ति है; क्योंकि संसार तो हरदम निवृत्त हो रहा है और परमात्मा हरदम प्राप्त हैं। परमात्मा सब जगह परिपूर्ण, स्वतःसिद्ध हैं। उनकी प्राप्ति क्रियासे नहीं होती। उनको स्वीकार करके, उनपर विश्वास करके ऐसा अनुभव कर ले कि एक 'है' तत्त्व है। उसमें 'नहीं' नहीं है, केवल है-ही-है! वह स्वतःसिद्ध तत्त्व है। उस तत्त्वके सिवाय कुछ हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं। वह तत्त्व सदा ज्यों-का-त्यों है।

है सो सुन्दर है सदा, नहिं सो सुन्दर नाहिं।
नहिं सो परगट देखिये, है सो दीखे नाहिं॥

जो दीखता है, वह 'नहीं' है। उस 'नहीं' का ही इन्द्रियाँ और अन्तःकरण अंग हैं। अतः **इन्द्रियों और अन्तःकरणके द्वारा 'नहीं' का ही दर्शन होता है, 'है' का दर्शन नहीं होता। 'है' का दर्शन अपने-आपसे होता है।** अपने-आपका अर्थ है—सत्ता अर्थात् अपना होनापन। अपने होनेपनमें अहम् नहीं है। जैसे आकाशमें तारा दीखता है, ऐसे ज्ञानमें अहम् दीखता है। अहम्का त्याग कर दे तो स्वरूपमें स्थिति स्वतःसिद्ध है। **स्वरूपमें स्थिति जाग्रत्-सुषुप्तिका फल है।** स्वरूपमें न जाग्रत् है, न स्वप्न है, न सुषुप्ति है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ हैं, जो अपेक्षाकृत हैं। तात्पर्य है कि 'जाग्रत्' की अपेक्षा स्वप्न और सुषुप्ति है, 'स्वप्न' की अपेक्षा जाग्रत् और सुषुप्ति है, और 'सुषुप्ति' की अपेक्षा जागत् और स्वप्न है। निरपेक्ष तत्त्वमें न जाग्रत् है, न स्वप्न है, न सुषुप्ति है। वह सदा ज्यों-का-त्यों है। वह सबको नित्यप्राप्त है। केवल संसारको सत्ता और महत्ता देनेसे उस नित्य जागृतिका अनुभव नहीं होता।

आप कई बातोंको जानते हैं, अवस्थाओंको जानते हैं, भाषाओंको जानते हैं, लिपियोंको जानते हैं, कला-कौशल आदिको जानते हैं, पर ये जानी हुई, सीखी हुई बातें होती हैं। परंतु जो 'है', वह सीखा हुआ, पैदा हुआ, बना हुआ नहीं है। उसकी प्राप्ति नित्यप्राप्तकी प्राप्ति है। उसकी प्राप्ति होनेपर फिर वह कभी अप्राप्त नहीं होता—'**यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव**' (गीता ४। ३५) 'जिसका अनुभव करनेके बाद तू फिर इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा'। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति अवस्थाएँ मोहमें हैं। जैसे दहीमेंसे मक्खन निकालनेके बाद पुनः मक्खनका दही नहीं बनता, ऐसे ही एक बार मोह मिटनेके बाद पुनः मोह नहीं होता। वास्तवमें दही और मक्खन अलग-अलग ही हैं, पर वे अलग दीखते नहीं। ऐसे ही परमात्मतत्त्व सदा ज्यों-का-त्यों मौजूद है, पर उसका अनुभव होता नहीं। परंतु असत्से अलग होते ही उसकी प्राप्ति हो जाती है अर्थात् एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही रह जाता है। आप अभीसे ऐसा मान लें कि एक परमात्मा ही है। इसके लिये गीताके तेरहवें अध्यायका पन्द्रहवाँ श्लोक बड़े कामका है—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥

(गीता १३। १५)

'वे परमात्मा सम्पूर्ण प्राणियोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण हैं और चर-अचर प्राणियोंके रूपमें भी वे ही हैं एवं दूर-से-दूर तथा नजदीक-से-नजदीक भी वे ही हैं और वे अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे जाननेमें नहीं आते।'

जैसे बर्फसे बने घड़ेको पानीसे भरकर समुद्रमें रख दें तो उसके भीतर भी जल है, बाहर भी जल है और वह खुद भी जल ही है।

अन्तःपूर्णो बहिःपूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे।
अन्तःशून्यो बहिःशून्यः शून्यकुम्भ इवाम्बरे॥

(मैत्रेय्युपनिषद् २। २७)

'जैसे समुद्रमें घड़ा पड़ा हो तो उसके भीतर भी जल है और बाहर भी जल है, और जैसे खाली पड़े घड़ेके भीतर भी शून्य है और बाहर भी शून्य है, ऐसे ही परमात्मा (समुद्र तथा आकाशकी तरह) बाहर-भीतर सब जगह परिपूर्ण है।'

वह परमात्मतत्त्व तीनों अवस्थाओंसे अतीत है। उसमें भूत-भविष्य-वर्तमान तीनों काल नहीं हैं। वह सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। **ऊपरसे देखें तो वह सब कालोंमें रहता है, पर वास्तवमें सब काल उसमें रहते हैं। देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि सब उसके अन्तर्गत हैं।** इसलिये उसकी प्राप्ति होनेपर एक परमात्माके सिवाय कुछ नहीं रहता—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९)। पहले ऐसा मान लें कि एक परमात्माके सिवाय कुछ नहीं है। बालक अक्षर सीखता है तो पहले मानता है, फिर उसको स्वतः-स्वाभाविक अक्षरोंका ज्ञान हो जाता है; क्योंकि ऐसा पहलेसे ही है। इसलिये जो 'है', उसीकी प्राप्ति होती है। संसारमें 'नहीं' मुख्य है और परमात्मामें 'है' मुख्य है।

जाग्रत्-सुषुप्ति है कि कुछ भी चिन्तन न करे—

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥

(गीता ६। २५)

'धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा (संसारसे) धीरे-धीरे उपराम हो जाय और मन (बुद्धि)-को परमात्मस्वरूपमें सम्यक् प्रकारसे स्थापन करके फिर कुछ भी चिन्तन न करे।'

सबसे उपराम हो जाय। उपरति होना राग अथवा द्वेष नहीं है, प्रत्युत तटस्थता है। न राग है, न द्वेष है, प्रत्युत अपना किसीसे कोई मतलब नहीं है। एक 'है' ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण है। उस तत्त्वका हमारे साथ नित्ययोग है। उस नित्ययोगका अनुभव होनेपर फिर दुःख होता ही नहीं। कारण कि वहाँ दुःखोंके संयोगका ही वियोग है—'**तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्**' (गीता ६। २३)। दुःख स्पर्श ही नहीं करता; जैसे—अँधेरा सूर्य भगवान्‌का स्पर्श ही नहीं करता! जैसे सूर्यमें प्रकाश-ही-प्रकाश है, ऐसे ही परमात्मामें आनन्द-ही-आनन्द है। दुःख वहाँतक पहुँचता ही नहीं। ***'सदा दीवाली संत की, आठों पहर आनंद!!'***उसमें ही सन्त मस्त रहते हैं! ऐसा वह एक 'है'-तत्त्व सब जगह परिपूर्ण है। सबमें 'है' रूपसे वही परमात्मा दीखता है—

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥

(मानस, बाल० ११७। ८)

उसीकी सत्तासे यह जड़ संसार सत्यकी तरह दीखता है। एक सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन परमात्मतत्त्व है ज्यों-का-त्यों है। ज्ञानी-से-ज्ञानीमें भी वही है और मूर्ख-से-मूर्खमें भी वही है। उसके सिवाय किंचिन्मात्र भी कुछ नहीं है—'**मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय**' (गीता ७। ७)। इसलिये पहले भगवान्‌ने कहा —'**यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते**' (गीता ७। २) 'जिसको जाननेके बाद फिर इस विषयमें जाननेयोग्य अन्य (कुछ भी) शेष नहीं रहेगा।' जब उसके सिवाय कोई है ही नहीं तो फिर बाकी क्या रहेगा?

सब जग ईस्वररूप है, भलो बुरो नहिं कोय।
जैसी जिसकी भावना, तैसो ही फल होय॥

कोई नीले रंगका चश्मा पहन ले तो सब कुछ नीला दीखता है; परंतु परमात्माकी कृपा हो जाय तो परमात्मा दीखता नहीं, प्रत्युत सब परमात्मा-ही-परमात्मा हो जाता है! बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे सब परमात्मा-ही-परमात्मा है। उसको 'है' माननेसे उसकी प्राप्ति हो जाती है। प्रह्लादजीका भी भाव यही था कि भगवान् सब जगह 'है' रूपसे विद्यमान हैं तो भगवान् खम्भेमेंसे प्रकट हो गये—

सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः।
अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन् स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम्॥

(श्रीमद्भा० ७। ८। १८)

'भगवान् अपने सेवक (प्रह्लादजी)-की वाणी सत्य करने और सम्पूर्ण प्राणियोंमें अपनी व्यापकता सिद्ध करनेके लिये सभाके भीतर उसी खम्भेसे बड़ा ही विचित्र रूप धारण करके प्रकट हो गये। वह रूप न तो पूरा सिंहका ही था और न मनुष्यका ही।'

बर्फके कितने ही ढेले हों, उनको पानीमें रख दो तो वे डूबते-तैरते हुए दीखते हैं, पर दीखनेपर भी जलके सिवाय कुछ नहीं है। इसी तरह संसाररूपसे दीखनेपर भी वास्तवमें परमात्माके सिवाय कुछ नहीं है।

जैसे बालक पहले 'क-ख-ग' अक्षर सीखता है। फिर सीखते-सीखते वह पुस्तकें पढ़ने-लिखने लग जाता है, ऐसे ही आरम्भमें साधक सब जगह परमात्माको मानता है, फिर उसको वैसा ही दीख जाता है। है-ज्यों (जो जैसा है, वैसा) दीखनेका नाम ही 'ज्ञान' है। संसारका ज्ञान हो जाय तो परमात्माका ज्ञान हो जायगा, और परमात्माका ज्ञान हो जाय तो संसारका ज्ञान हो जायगा। जो नित्य-निरन्तर जा रहा है, मर रहा है, वह संसारका स्वरूप है और जो कभी मरता नहीं, निरन्तर ज्यों-का-त्यों रहता है, वह परमात्माका स्वरूप है। जैसे बिना लहरोंका शान्त, गम्भीर समुद्र हो, ऐसे एक सम, शान्त, सत्-चित्-आनन्दघन परमात्मतत्त्व सर्वत्र परिपूर्ण है।

[आश्विन शुक्ल १०, वि०सं० २०५०, दिनांक २४.१०.१९९३ को
प्रातः ५ बजे, वृन्दावनमें दिये गये प्रवचनसे]

***

३. ज्ञानचक्षु

यह बहुत बड़ी भूल है कि हम अपनेको शरीरके साथ मिला लेते हैं! प्रत्यक्ष अनुभव है कि बालकपनसे लेकर अभीतक शरीर कितना बदल गया, पर स्वयं मैं वही हूँ, बदला नहीं हूँ। फिर भी अपनेको शरीरके साथ मिला लेते हैं कि मैं बालक हो गया, मैं जवान हो गया, मैं बूढ़ा हो गया, मैं रोगी हो गया, मैं नीरोग हो गया! वास्तवमें यह सब शरीर होता है; हम न बालक होते हैं, न जवान होते हैं, न बूढ़े होते हैं। हम तो इनको जानते हैं। **जो जाननेवाला होता है, वह जाननेमें आनेवाला नहीं होता, और जो जाननेमें आनेवाला होता है, वह जाननेवाला नहीं होता।** गीतामें आया है—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥

(गीता १३। ३४)

'इस प्रकार जो ज्ञानरूपी नेत्रोंसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विभागको तथा कार्य-कारणसहित प्रकृतिसे स्वयंको अलग जानते हैं, वे परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।'

आप ज्ञानरूपी नेत्रोंसे (विवेकसे) देखो कि क्षेत्र (शरीर) तो बदलता ही रहता है। कोई ऐसा क्षण नहीं, जिसमें क्षेत्र बदलता न हो, और कोई ऐसा क्षण नहीं, जिसमें क्षेत्रज्ञ (स्वयं) बदलता हो। यह बात एकदम पक्की है! समझमें नहीं आये तो भी सही बात यही है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(गीता २। १६)

'असत्का तो भाव (सत्ता) विद्यमान नहीं है और सत्का अभाव विद्यमान नहीं है। तत्त्वदर्शी महापुरुषोंने इन दोनोंका ही तत्त्व देखा अर्थात् अनुभव किया है।'

गीतामें तीन प्रकारके चक्षुओंका वर्णन आया है—ज्ञानचक्षु, दिव्यचक्षु और स्वचक्षु—**'विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः'** (गीता १५। १०); **'न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा। दिव्यं ददामि ते चक्षुः०'** (गीता ११। ८)। ज्ञानचक्षुसे दीखता है कि मैं अलग हूँ, शरीर अलग है। शरीर परिवर्तनशील है, कभी स्थिर नहीं रहता, प्रतिक्षण बदलता है; परंतु स्वयं कभी किसी कालमें क्षणमात्रके लिये भी नहीं बदलता। यह सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग—किसी युगमें भी नहीं बदलता। उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयमें, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिमें भी कभी नहीं बदलता। अगर स्वयं भी बदलता तो उसको तीनों अवस्थाओंका ज्ञान नहीं होता। **यह जाग्रत् है, यह स्वप्न है, यह सुषुप्ति है—इस प्रकार तीनों अवस्थाओंका ज्ञान उसीको होता है, जो तीनों अवथाओंसे अलग है।** यह प्रत्यक्ष बात है कि हम जाग्रत्को भी जानते हैं, स्वप्नको भी जानते हैं और सुषुप्तिको भी जानते हैं। अतः हम न जाग्रत्में हैं, न स्वप्नमें हैं, न सुषुप्तिमें हैं। हम इन तीनोंको जाननेवाले हैं। ये तीनों अवस्थाएँ तीनों शरीरोंकी हैं। जाग्रत्-अवस्था स्थूलशरीरमें होती है, स्वप्नावस्था सूक्ष्मशरीरमें होती है, और सुषुप्ति-अवस्था कारणशरीरमें होती है। इन तीनों शरीरोंका हमें ज्ञान है तो हम तीनों शरीरोंसे अलग हैं। जो अलग होता है, वही 'एक, दो, तीन......' ऐसे गिन सकता है। गीतामें आया है—

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥

(गीता १५। १०)

'शरीरको छोड़कर जाते हुए या दूसरे शरीरमें स्थित हुए अथवा विषयोंको भोगते हुए भी गुणोंसे युक्त जीवात्माके स्वरूपको मूढ़ मनुष्य नहीं जानते, ज्ञानरूपी नेत्रोंवाले (ज्ञानी मनुष्य ही) जानते हैं।'

शरीरको छोड़कर जाना, शरीरमें स्थित रहना, विषयोंका सेवन करना आदि सब कार्य हमारे सामने होते हैं, फिर भी इनको अज्ञानी नहीं देख सकते, प्रत्युत ज्ञाननेत्रोंवाले ही देख सकते हैं कि ये अवस्थाएँ स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीरोंकी हैं, मेरी नहीं हैं। जैसे, अनपढ़ आदमीके सामने 'श्रीमद्भगवद्गीता' लिख दो तो उसको लकीरें दीखती हैं, यह नहीं दीखता कि क्या लिखा है। ऐसे ही ज्ञाननेत्रोंके बिना मनुष्य सामने होनेवाली घटनाओंको भी नहीं जान सकता। अगर मनुष्य जाग्रत्में दूसरा होता, स्वप्नमें दूसरा होता और

सुषुप्तिमें दूसरा होता तो वह तीनों अवस्थाओंको कैसे जानता? इसलिये यह मानना ही पड़ेगा मनुष्य तीनों अवस्थाओंमें वही है।

मनुष्यके भीतर यह बात जँची हुई है कि जाग्रत्-अवस्था मुख्य है। वास्तवमें जाग्रत्-अवस्था मुख्य नहीं है। तीनों अवस्थाओंमें सबसे कमजोर जाग्रत्-अवस्था है! स्वप्न और सुषुप्तिसे भी जाग्रत्-अवस्था कमजोर है! जाग्रत्-अवस्थामें आप 'एक स्वप्नावस्था होती है और एक सुषुप्ति-अवस्था होती है'—ऐसा जानते हैं। सुषुप्ति-अवस्थामें क्या आपको पता होता है एक जाग्रत्-अवस्था होती है, एक स्वप्न-अवस्था होती है? स्वप्नावस्थामें क्या आपको पता होता है कि एक जाग्रत्-अवस्था होती है, एक सुषुप्ति होती है? तीनों अवस्थाओंमें अपनी सत्ताका अनुभव होता है; परंतु स्वप्नमें न जाग्रत्की सत्ता है, न सुषुप्तिकी सत्ता है, और सुषुप्तिमें न जाग्रत्की सत्ता है, न स्वप्नकी सत्ता है। **अपनी अवस्थामें तो सबकी सत्ता है, पर दूसरी अवस्थामें भी जिसकी सत्ता रह जाय, वह प्रबल हुई और जाग्रत्-अवस्था कमजोर हुई!** परंतु जाग्रत्का अभ्यास ज्यादा होनेसे हम जाग्रत्को मुख्य मानते हैं।

श्रोता—ज्ञानचक्षु और स्वचक्षुमें क्या भेद है?

स्वामीजी—जब अर्जुनने कहा कि मैं आपका दिव्य विराट्रूप देखना चाहता हूँ, तब भगवान्ने चार बार कहा कि मेरा विराट्रूप देख—'**पश्य**' (११।५-७), पर अर्जुनको विराट्रूप नहीं दीखा, तब भगवान्ने कहा—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥

(गीता ११।८)

'परंतु तू इस अपनी आँख (चर्मचक्षु)-से मुझे देख ही नहीं सकता, इसलिये मैं तुझे दिव्यचक्षु देता हूँ, जिससे तू मेरी ईश्वरीय सामर्थ्यको देख।'

फिर भगवान्ने विराट्रूप दिखाया तो उसको देखनेकी आँखें भी भगवान्ने ही दीं। भक्त तो केवल जिज्ञासा करता है, पर उस जिज्ञासाका ज्ञान भी भगवान् देते हैं और उस ज्ञानको जाननेकी शक्ति भी भगवान् देते हैं। भगवान्ने अर्जुनको दिव्यचक्षु दिये, जिनसे वह भगवान्के विराट्रूपको देखने लग गया।

बहुत-से लोग कहते हैं कि यह संसार ही विराट्रूप है, पर ऐसा नहीं है। विराट्रूप इससे अलग है। संसारको देखनेके लिये तो स्वचक्षु हैं, पर विराट्रूपको देखनेके लिये स्वचक्षु नहीं हैं, प्रत्युत दिव्यचक्षु हैं। वे दिव्यचक्षु कैसे होते हैं, यह भगवान् ही बता सकते हैं, हम कैसे बतायें? उन दिव्य चक्षुओंसे अर्जुनने भगवान्को देखा है। ऐसा नहीं है कि भगवान्ने अर्जुनको ज्ञान दे दिया कि तुम इसको परमात्माका स्वरूप समझ लो। भगवान्ने साफ कहा है—'**दिव्यं ददामि ते चक्षुः**', और अर्जुनने भी साफ कहा है कि मैं देखता हूँ—'**पश्यामि देवांस्तव देव देहे**' (गीता ११।१५) तथा संजयने भी कहा है—'**अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा**' (गीता ११।१३)। उन्होंने ऐसा नहीं कहा है कि मैंने इसको जान लिया अथवा मान लिया है। भगवान्, अर्जुन और संजय—तीनोंकी वाणीमें 'देखने' की बात आयी है। देखना आँखोंसे होता है।

भगवान्ने अर्जुनकी आँखोंमें एक दिव्य शक्ति दी। जैसे, मकानमें कोई वस्तु अँधेरेमें पड़ी हुई है और उसको लेकर आना है तो आँखें होते हुए भी अँधेरेमें वह वस्तु नहीं दीखती। इसलिये साथमें दीपक लेकर जाते हैं। दीपक आपकी आँखोंको और उस वस्तुको, दोनोंको प्रकाशित कर देता है, तब आप उस वस्तुको देखते हो। अगर दीपक न हो तो आप वस्तुको नहीं देख सकते। वह जैसे आप किसी भी वस्तुको देखनेके लिये दीपक, बत्ती आदिका सहारा लेते हैं, ऐसे सूर्यको देखनेके लिये दीपक आदिका सहारा नहीं लेते कि

देखें, सूर्यका उदय हुआ है कि नहीं? सूर्यको क्या आप दीपक, बत्ती आदिसे देखोगे? सूर्य अपने-आप प्रकट होता है और देखनेकी शक्ति भी सूर्य ही देता है। दूसरी वस्तुओंको देखनेके लिये तो दूसरे प्रकाशकी जरूरत होती है, पर सूर्यको देखनेके लिये दूसरे प्रकाशकी जरूरत नहीं होती। इसी तरह दिव्यचक्षु आँखोंको भी प्रकाश देते हैं और आगे दीखनेवाले भगवान्‌के दिव्य शरीरको भी प्रकाश देते हैं। भगवान्‌के विराट्‌रूपमें सब दिव्य-ही-दिव्य है—'**अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्**' (गीता ११। १०); '**दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्**' (गीता ११। ११)। ऐसे दिव्य रूपको चर्मचक्षुओंसे कैसे देखेंगे? दिव्य रूपको देखनेके लिये चक्षु भी दिव्य चाहिये। इसीलिये उसको देखनेके लिये भगवान् दिव्यचक्षु देते हैं।

भगवान्‌ने दिव्य विराट्‌रूपको देखनेकी बड़ी दुर्लभता बतायी है—

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥
(गीता ११। ४८)

'हे कुरुश्रेष्ठ! मनुष्यलोकमें इस प्रकारके विश्वरूप-वाला मैं न वेदोंके पाठसे, न यज्ञोंके अनुष्ठानसे, न शास्त्रोंके अध्ययनसे, न दानसे, न उग्र तपोंसे और न मात्र क्रियाओंसे तेरे (कृपापात्रके) सिवाय और किसीके द्वारा देखा जा सकता हूँ।'

तात्पर्य है कि ज्ञानचक्षुसे तत्त्वज्ञान तो हो सकता है, पर विराट्‌रूपके दर्शन दिव्यचक्षुके बिना नहीं होते। चतुर्भुजरूपके लिये भगवान्‌ने कहा है कि अनन्यभक्तिसे इसके दर्शन हो सकते हैं—'**भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन**' (गीता ११। ५४)। भक्तिसे वे ज्ञानचक्षु मिलते हैं, जिनसे चतुर्भुजरूपके दर्शन हो सकते हैं। कर्मयोगसे भी ज्ञानचक्षु मिलते हैं। जड़ताका त्याग होनेसे वे ज्ञानचक्षु जाग्रत् होते हैं—'**क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा**'।

इन बातोंको सत्संग करनेवाले जितना समझते हैं, उतना नया आदमी नहीं समझता। कारण कि सत्संग करनेवालेमें ज्ञानचक्षुका अंश आया है। सत्संग सुनते-सुनते ज्ञानचक्षु कुछ खुले हैं! **जैसे आधी नींद और आधी जागृतिमें आँख अधखुली रहती है, ऐसे ही सत्संग करनेवालोंकी थोड़ी-थोड़ी आँख खुलती है!** जयदयालजी कसेरा कहा करते थे कि क्या करें, कच्ची नींदमें जाग गये! कच्ची नींदमें पूरी आँख खुलती नहीं। तत्त्वज्ञान होनेपर नींद पक जाती है और ज्ञानचक्षु खुल जाते हैं।

साधक सत्संगकी बातोंको जितना गहरा समझता है, उतने ही उसके ज्ञानचक्षु खुलते हैं। गीताजीके भावोंको आप जितना गहरा समझोगे, उतने ही आपके ज्ञानचक्षु खुलेंगे। ये बातें मामूली नहीं हैं! इनको हरेक आदमी नहीं समझ सकता! इसलिये आप अपने ज्ञानचक्षु जाग्रत् करो।

[ज्येष्ठ कृष्ण ६, वि०सं० २०४७, दिनांक १६.५.१९९० को प्रातः ५ बजे, गीताभवन, स्वर्गाश्रम, ऋषिकेशमें दिये गये प्रवचनसे]

***

४. जाग्रत्-अवस्थाकी कमजोरी

श्रोता—सुबह आपने एक बात कही थी कि जाग्रत्-अवस्था सबसे कमजोर अवस्था है, यह बात स्पष्ट नहीं हो पायी! जाग्रत्-अवस्थाको तो सबसे श्रेष्ठ और सात्त्विक कहा गया है!!

स्वामीजी—सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत्—ये तीन अवस्थाएँ हैं। सुषुप्ति कभी-कभी होती है, स्वप्न कई बार आता है और जाग्रत्-अवस्था तो रहती ही है। मैंने सुबह कह दिया कि जाग्रत्-अवस्था सबसे कमजोर है। जाग्रत्-अवस्था तो हरदम रहनेवाली है, फिर यह कमजोर कैसे हुई? यह तो विशेष हुई! इस विषयमें मैंने अनुभव बताया कि जाग्रत्-अवस्थामें 'एक स्वप्न-अवस्था भी होती है, और एक सुषुप्ति-अवस्था भी होती है'—इन दोनोंका ज्ञान होता है; परंतु स्वप्न-अवस्थामें 'जाग्रत्-अवस्था होती है'—यह ज्ञान नहीं होता और सुषुप्ति-अवस्थामें 'जाग्रत् तथा स्वप्न-अवस्था होती है'—यह ज्ञान नहीं होता। जो कमजोर अवस्था होती है, वह दब जाती है, पर जो बलवान् होती है, वह दबती नहीं। इस दृष्टिसे देखें तो जाग्रत्-अवस्था स्वप्नमें भी नहीं रहती और सुषुप्तिमें भी नहीं रहती। स्वप्न-अवस्था और सुषुप्ति-अवस्था जाग्रत्में सत्तारूपसे वर्तमान नहीं हैं, पर वर्तमानमें न होते हुए भी सत्ता स्वप्नकी भी है और सुषुप्तिकी भी है। इसलिये जाग्रत्-अवस्था कमजोर हुई। **जाग्रत्में स्वप्नने भी अपनी सत्ता रखी है और सुषुप्तिने भी अपनी सत्ता रखी है; परंतु स्वप्न और सुषुप्तिमें जाग्रत्की सत्ता ही नहीं है!**

अब जाग्रत्-अवस्था श्रेष्ठ कैसे है—इसपर विचार किया जाता है। जाग्रत्में स्वप्न और सुषुप्ति दोनोंकी सत्ता रही तो इसमें जाग्रत्-अवस्थाकी विशेषता है। कारण कि जाग्रत्-अवस्थामें इतना होश है कि हम स्वप्नको भी जानते हैं और सुषुप्तिको भी जानते हैं; परंतु स्वप्नमें इतनी बेहोशी है कि हम जाग्रत्को नहीं जानते! सुषुप्तिमें इतनी बेहोशी है कि हम जाग्रत् और स्वप्नको नहीं जानते! तात्पर्य है कि जाग्रत्में होश विशेष रहता है, इसलिये जाग्रत्-अवस्था श्रेष्ठ है।

अब यह बात बताता हूँ कि जाग्रत्-अवस्था रद्दी कैसे है? स्वप्न और सुषुप्तिमें जाग्रत्-अवस्था मिटती नहीं है, प्रत्युत दबती है; परंतु जाग्रत्-अवस्थामें स्वप्न और सुषुप्ति मिट जाती है। जैसे, अभी स्वप्न भी नहीं है और सुषुप्ति भी नहीं है तो इनका अभाव हो जाता है। परंतु स्वप्न और सुषुप्तिमें जाग्रत्का अभाव नहीं होता, प्रत्युत वह दब जाती है, इसलिये जाग्रत्में उनका भान होता है कि स्वप्न आया, सुषुप्ति आयी। जहाँ इस शरीरका त्याग हुआ और दूसरे शरीरकी प्राप्ति हुई तो इस शरीरकी जाग्रत्-अवस्था मिट जाती है। परंतु स्वप्न और सुषुप्ति मिटनेके बाद फिर हो जाती है। तात्पर्य है कि जाग्रत्-अवस्था मिटती नहीं है, प्रत्युत जबतक शरीर रहता है, तबतक रहती है। किसी-किसीकी दूसरे जन्ममें भी स्मृति रहती है। जाग्रत्-अवस्थामें स्वप्न और सुषुप्तिका भी बोध है, इसलिये जाग्रत्में सात्त्विकता अधिक है। सुषुप्तिमें तामसपना अधिक है, इसलिये उसमें जाग्रत् और स्वप्नका ज्ञान नहीं होता। परंतु अवस्थाओंको देखा जाय तो सत्तारूपसे अभी स्वप्न और सुषुप्ति है, पर स्वप्न और सुषुप्तिमें जाग्रत्की सत्ता नहीं है; क्योंकि यह दब जाती है।

मेरा मतलब था कि जैसे रुपया है। रुपयेसे बढ़कर वस्तु है; क्योंकि रुपया स्वयं काम नहीं आता, पर वस्तु स्वयं काम आती है। वस्तु चाहे जूती हो, पर स्वयं काम आती है। रुपया वस्तुके द्वारा काम आता है, स्वतन्त्र काम नहीं आता। अन्न, जल, वस्त्र, मकान आदि वस्तुएँ स्वतन्त्र काम आती हैं, रुपयेकी अपेक्षा नहीं रखतीं। जब लोभ ज्यादा होता है, तब मनुष्य वस्तुओंकी बिक्री करता है और रुपये इकट्ठा करता है! यह रुपयोंका महत्त्व है! वस्तुसे भी बढ़कर व्यक्ति है। जैसे, गाय, भैंस, भेड़, बकरी, वृक्ष, पौधा आदि जितने स्थावर-जंगम जीव हैं, वे वस्तुसे बढ़कर हैं। कारण कि इनके काम वस्तु आती है और ये भी काम आते हैं। व्यक्तियोंमें भी गाय सबसे बढ़कर है। गायका जितना उपकार है, उतना किसी पशु-पक्षीका नहीं

है। गाय-जैसा शुद्ध कोई प्राणी नहीं है, जिसका गोबर और गोमूत्र भी शुद्ध है, पवित्र करनेवाला है! गायसे बढ़कर मनुष्य है। मनुष्य सब व्यक्तियोंमें विशेष है। मनुष्योंमें सार-असार, सत्-असत्, नित्य-अनित्य आदिका विवेक विशेष है। यह विवेक मनुष्यमें जितना अधिक होगा, उतना वह मनुष्योंमें ऊँचा बढ़कर होगा। महात्माओंमें, सन्तोंमें विवेकके सिवाय और क्या है? घरमें भी जो पंच बनता है, वह विवेकके कारण है। इसलिये विवेक बहुत कीमती चीज है।

सत्-असत्के विवेकमें सत्-तत्त्व विशेष है। सत्की प्राप्ति होनेके बाद फिर पूर्णता है। इस प्रकार सत्-तत्त्व सबसे विशेष है, पर आज रुपयोंको विशेष मानते हैं! रुपयोंके लिये वस्तुओंकी बिक्री कर देते हैं! मकान, जमीनतक बिक्री कर देते हैं! जमीन जितनी कीमती है, उतने कीमती रुपया, सोना-चाँदी भी नहीं हैं! सोना-चाँदी चोरी हो सकते हैं। सिक्का (रुपया) राज्य बदलनेसे रद्दी हो जायगा, पर जमीन रद्दी नहीं होगी। इसलिये मैं कहता हूँ कि संस्थाकी, घरकी जमीनकी बिक्री मत करो। जमीन बिक्री करनेसे आपके बहुत घाटा पड़ गया! परंतु जिसके भीतर रुपयोंका महत्त्व है, उसको यह बात समझ नहीं आती। वह रुपयोंके लिये जमीन बेच देगा कि रुपया ब्याज आदिमें काम आयेगा, जमीन क्या काम आयेगी! रुपया सबसे रद्दी है—यह कहते ही आदमी घबरा जाता है! मेरा तात्पर्य रुपयोंकी निन्दा करनेमें नहीं है, प्रत्युत इसमें है कि आप होशमें आ जाओ। ऐसे ही जाग्रत्-अवस्थाको रद्दी कहनेका तात्पर्य है कि आप चेत करो, होशमें आ जाओ।

गीतामें आया है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(गीता ६। २२)

'जिस लाभकी प्राप्ति होनेपर उससे अधिक कोई दूसरा लाभ उसके माननेमें भी नहीं आता और जिसमें स्थित होनेपर वह बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं किया जा सकता।'

सत्-तत्त्वकी प्राप्तिके समान कोई लाभ हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं। रुपया, वस्तु, व्यक्ति आदि सब असत्के अन्तर्गत हैं। असत्का सर्वथा त्याग होनेपर सत्की प्राप्ति है। आपका स्वरूप सत् है—***'ईस्वर अंस जीव अबिनासी'*** (मानस, उत्तर० ११७। १)। 'अविनाशी' का अर्थ है—सत्। वह नित्य ज्यों-का-त्यों रहता है—**'भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते०'** (गीता ८। १९)। जीव बार-बार शरीर धारण करता और छोड़ता है। असत्का संयोग-वियोग होता है, पर सत्का संयोग-वियोग नहीं होता। सत्के साथ इसका नित्ययोग है। असत्के संयोगके वियोगको गीताने 'योग' कहा है—**'तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्'** (६। २३)।

मैं रुपयोंको सबसे रद्दी कहता हूँ; क्योंकि आपकी दृष्टि अभी रुपयोंपर ही अवलम्बित है। आपको सत्-तत्त्वमें ले जानेके लिये रुपयोंको रद्दी कहता हूँ। लोग कहते हैं कि स्वामीजी रुपयोंको समझते नहीं! मैं रुपयोंके तत्त्वको समझता हूँ। एक अभिमानकी बात कहता हूँ कि मैंने रुपये रखे भी हैं और छोड़े भी हैं, इसलिये मैं रुपयोंके भाव और अभाव दोनोंको जानता हूँ; परंतु आप रुपयोंके भावको जानते हैं, अभावको नहीं जानते। रुपयोंका जो महत्त्व है, वह मेरे अपरिचित नहीं है। लोगोंके भीतर क्या चीज है, उसको आप नहीं समझते, मैं समझता हूँ! **आपमें अपनी बुद्धिमानीका अभिमान है। वह अभिमान मेरी सच्ची बातको टिकने नहीं देता!** मैं जानकार हूँ, स्वामीजी इस बातको क्या जानें! परिवार-नियोजनकी बात स्वामीजीको क्या पता! बच्चा-बच्चीका कितना पालन करना पड़ता है, शिक्षा देनी पड़ती है, ब्याह करना पड़ता है, कितनी

आफत होती है! इसका स्वामीजीको क्या पता? मुफ्तमें रोटी खाते हैं! ये क्या समझें? इस तरह मेरेको बेसमझ समझते हैं! यह अपनी बुद्धिका अभिमान है, जो मेरी सच्ची बातको टिकने नहीं देता! बुद्धिमानी खराब नहीं है, उसका अभिमान खराब है कि हम जानकार हैं, तुम अनजान हो। अभिमान सम्पूर्ण आसुरी सम्पत्तिका आश्रय है। जितनी आसुरी सम्पत्ति है, जितने अवगुण हैं, वे सब-के-सब अभिमानरूपी वृक्षकी छायामें रहते हैं।

अभिमान जैसा प्यारा लगता है, वैसा प्यारा कोई नहीं लगता! अपमान हो जाय तो मानो गला कट गया! अभिमानको आदमी सुरक्षित रखना चाहता है। वह साधु हो जायगा, त्याग कर देगा, पर 'हम साधु हैं'—यह अभिमान नहीं छूटेगा! त्यागके साथ भी वही अभिमान रहता है कि 'मैं त्यागी हूँ'। वही अभिमान मेरी सच्ची बातको पकड़ने नहीं देता! आपमें अभिमान है कि हम समझते हैं, पर वास्तवमें आप बेसमझीके पुतले हो! क्षमा करना, आप साक्षात् ईश्वररूप हैं, पर आपको चेत करानेके लिये कहता हूँ कि होशमें आओ।

होशमें लानेके लिये मैंने जाग्रत्-अवस्थाको कमजोर, रद्दी बताया; क्योंकि आप जाग्रत्के पदार्थोंको बड़ा महत्त्व देते हो। आप देखते हो कि अभी कलवाला स्वप्न कहाँ है? सुषुप्ति कहाँ है? पर जाग्रत्-अवस्था तो है। परंतु इस जन्मसे पहले जो जाग्रत्-अवस्था थी, वह कहाँ है? आप नहीं बता सकते।

अगर आप अपनी बुद्धिमानीका अभिमान छोड़ दो तो निहाल हो जाओगे, इसमें किंचिन्मात्र सन्देह नहीं है! रात मेरी एक ब्रह्मचारीसे बातें हुईं। उसमें मैंने बताया कि आज्ञा-पालन करना, कहना मानना बहुत ऊँची चीज है! जैसे धनीकी गोद जानेवालेको कमाया धन मुफ्तमें मिलता है, ऐसे ही धनीकी आज्ञा-पालन करनेसे धन मिलेगा, महात्माकी आज्ञा-पालन करनेसे महात्मापन मिलेगा, जीवन्मुक्तकी आज्ञा-पालन करनेसे जीवन्मुक्ति मिलेगी। **उनके पास जो तत्त्व है, वह तत्त्व आपको मुफ्तमें केवल उनकी आज्ञा-पालन करनेसे मिल जायगा!** परंतु आज्ञा-पालन करेगा कब? जब अपना अहंकार दूर होगा, तब! अगर अपने अहंकारको रखेगा तो कौन आज्ञा-पालन करेगा और क्यों करेगा! मूर्खकी बात कौन मानेगा? मैं समझदार हूँ और तुम बेसमझ हो तो तुम्हारी बात हम कैसे मानें? वास्तवमें किसी आदमीको आप बेसमझ नहीं कह सकते। किसी विषयमें आप जानकार हैं तो किसी विषयमें दूसरा जानकार है, फिर दूसरा बेसमझ कैसे? सबमें अपनी-अपनी अलग समझ है, और वह समझ ऐसी विलक्षण है कि दूसरेको पता नहीं है, दूसरा नहीं बता सकता!

जिसने सत्यको प्राप्त कर लिया है, वह जितना श्रेष्ठ है, उतना दुनियामें कोई श्रेष्ठ नहीं है, इन्द्र भी नहीं है! पदसे ब्रह्माजी भी नहीं हैं!! एक विचित्र बात है कि उस सत्यकी प्राप्तिके सब अधिकारी हैं! मनुष्यमात्र अधिकारी है! सबके पास बराबर पैसा नहीं है, सबके पास बराबर अक्ल नहीं है, सबके पास बराबर बल नहीं है, सबके पास बराबर बुद्धि नहीं है, सबके पास बराबर परिवार नहीं है, सबके पास बराबर जमीन नहीं है, सबके पास बराबर मकान नहीं है, पर सत्यकी प्राप्तिमें सब बराबर हैं!! **जो सर्वोपरि तत्त्व है, उसकी प्राप्तिमें सब भाई-बहन बराबर हैं।** आप उसको प्राप्त न करें, वह आपकी मरजी है। अगर करना चाहें तो सब-के-सब उस सत्यकी प्राप्ति कर सकते हैं।

राम दड़ी चौड़े पड़ी, सब कोई खेलो आय।
दावा नहीं संतदास, जीते सो ले जाय॥

हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध कोई क्यों न हो, सत्यकी प्राप्तिमें सब अधिकारी हैं। जो सबसे बढ़िया चीज है, उसके अधिकारी सब हैं! छोटे-बड़े, पढ़े-लिखे, अपढ़ सब उस सत्यको प्राप्त कर सकते हैं। केवल सत्यकी प्राप्तिकी लालसा हो। परंतु **सत्यकी लालसा तब जगेगी, जब असत्यकी लालसा मिटेगी।**

असत्यकी लालसा मिटाने और सत्यकी लालसा जाग्रत् करानेके लिये मैं अवस्थाओंका, पदार्थोंका विवेचन करता हूँ। धन-वैभव, मान-बड़ाई, बल-बुद्धि आदि लालसामात्रसे नहीं मिलते, पर सत्य लालसामात्रसे मिलता है; क्योंकि सत्यके साथ हमारा नित्य सम्बन्ध है, नित्ययोग है। उसका वियोग कभी हुआ ही नहीं। वियोग उसका होता है, जो उत्पन्न होकर नष्ट होता है।

[ज्येष्ठ कृष्ण ६, वि०सं० २०४७, दिनांक १६.५.१९९० को प्रातः ८.३० बजे, गीताभवन, स्वर्गाश्रम, ऋषिकेशमें दिये गये प्रवचनसे]

***

५. एकमात्र सत्ता

[श्रीस्वामीजी महाराजने एक वयोवृद्ध साधकको दो दिन प्रातः ३ बजे अपने कक्षमें बुलवाकर उसकी अनेक शंकाओंका समाधान किया। उस वार्तालापकी रिकार्डिंग कर ली गयी थी। उसीकी कुछ आवश्यक बातें यहाँ सबके लाभार्थ लिखितरूपमें प्रकाशित की जा रही हैं।]

(१)

साधक—कल प्रात:कालके प्रवचनमें आपने कहा कि इस नष्ट होते हुएमें अविनाशीको देखना है!

स्वामीजी—अविनाशीको देखना ही वास्तवमें देखना है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥

(गीता १३। २७)

'जो नष्ट होते हुए सम्पूर्ण प्राणियोंमें परमेश्वरको नाशरहित और समरूपसे स्थित देखता है, वही वास्तवमें सही देखता है।'

तत्त्व अपरिवर्तनशील है। उसीकी तरफ दृष्टि रखनी है।

साधक—इसमें दो मत हैं, एक तो यह कि जितना ब्रह्माण्ड है, यह प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है, इसलिये यह असत् है, और दूसरा, यह है ही नहीं, इसलिये असत् है?

स्वामीजी—**यह प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है, इसलिये असत् है।** गीतामें आया है—'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २। १६)। असत्‌की सत्ता विद्यमान नहीं है।

साधक—वेदान्तियोंका कहना कि 'यह है ही नहीं' कम समझमें आता है!

स्वामीजी—वह 'आभासवाद' है। 'अध्यास' जनानेके लिये तो उपयोगी है, पर यह सिद्धान्त नहीं है।

साधक—ऐसे ही वेदान्तियोंका यह कहना है कि शुद्ध स्वरूप आत्मा संसारसे सम्बन्ध करनेके कारण मलिन अर्थात् दु:खी हो रही है, और इसका कारण वे 'अज्ञान' बताते हैं।

स्वामीजी—ठीक बात है!

साधक—लेकिन आपका बतलाना बहुत सुगम और बुद्धिगम्य है। आप सांसारिक सुखासक्तिको कारण

बताते हैं—यह जल्दी समझमें आ जाता है! अज्ञान कब हुआ? कैसे हुआ? इन बातोंसे आदमी प्रपंचमें पड़ जाता है! परंतु सुखकी आसक्ति प्रत्यक्ष दीखती है।

स्वामीजी—आपका सन्देह क्या है, वह बोलो!

साधक—मेरा संशय यह था कि संसार प्रत्यक्ष दीख रहा है?

स्वामीजी—संसार प्रत्यक्ष दीखता है तो यह परिवर्तनशील है। यह एकरूप कभी रहा नहीं, रहेगा नहीं, रहता नहीं, रह सकता नहीं। यह तो प्रतिक्षण बदलता ही रहता है।

साधक—प्रत्यक्ष दीखते हुए भी इसको न दीखता हुआ मान लेना चाहिये?

स्वामीजी—प्रत्यक्ष दीखते हुए भी इसका आदर नहीं करना है। आदर विवेकका करना है। **सत्-असत्का जो विवेक है, उसमें 'सत्'-अंशका आदर करना है, 'असत्'-अंशका आदर नहीं करना है।** ऐसा करते-करते असत्की निवृत्ति हो जायगी और बोध हो जायगा।

अन्त:करणमें जो असत्की सत्ता पड़ी है, उसको दूर करनेके लिये संसारको अध्यस्त मानना अथवा संसार है ही नहीं—यह मानना भी कामकी चीज है। जैसे, दो आदमी हैं। उनको रस्सीमें साँप दीखा तो एक आदमी भयभीत हो गया, डरसे काँपने लगा कि साँप काट खायेगा, और दूसरा आदमी धैर्यवान् है, इसलिये डरा नहीं कि साँप दीख गया तो क्या हो गया, अपने बच जाओ। जो आदमी भयभीत हो गया, उसको दो बातें कहनी पड़ती हैं—यह साँप नहीं है, रस्सी है। परंतु जो भयभीत नहीं हुआ, उसको एक ही बात कहनी पड़ती है कि यह रस्सी है। इसी तरह जिसमें संसारकी आसक्ति, राग, द्वेष, ईर्ष्या आदि है, उसको कहना पड़ता है कि 'संसार है ही नहीं'; यह केवल प्रतीति है, यह रस्सीमें सर्पकी तरह है, यह मृगतृष्णाकी तरह है, यह शीतकोटकी तरह है, यह स्वप्नकी तरह है, यह दर्पणमें दीखनेवाले दृश्यकी तरह है, आदि-आदि। ऐसा कहनेका तात्पर्य आसक्ति मिटानेमें है; परंतु यह सिद्धान्त नहीं है।

साधक—आप करणनिरपेक्ष साधन बताते हैं। मैं प्रतिदिन गायत्री-मन्त्र जपा करता था। फिर मैंने इसके अर्थपर ध्यान दिया। इस मन्त्रमें '**धियो यो नः प्रचोदयात्**' आया है, जिसमें 'मैं' और 'मेरी बुद्धि' की बात आयी है। इस बातसे मुझे संशय होने लगा कि यह मन्त्र भी जपना चाहिये कि नहीं जपना चाहिये?

स्वामीजी—'**धियो यो नः प्रचोदयात्**' में प्रार्थना है कि परमात्मा हमारी बुद्धिको शुद्ध करे, ठीक करे। गायत्री मन्त्रमें बातें हैं—तत्त्वका वर्णन, ध्यान और प्रार्थना। तीनों बातें अलग-अलग हैं।

साधक—परंतु इसमें 'मैं' और 'मेरी बुद्धिकी शुद्धि' कहनेमें करणनिरपेक्षता तो नहीं आयी?

स्वामीजी—वेद भगवान् सम्पूर्ण सृष्टिको सामने रखकर कहते हैं—'**तद्भाषयोत्तरं ब्रूते श्रुतिः सौति हितैषिणी**'। श्रुति संसारकी भाषासे बोलती है अर्थात् संसारकी सत्ता मानकर बोलती है; क्योंकि उसके सामने संसारकी सत्ताको स्वीकार करनेवाली जनता है। वेदवाणी सम्पूर्ण जनताके लिये है, केवल आपके-हमारे लिये थोड़े ही है! वेद जनताकी भाषासे बोलेंगे, तभी वह समझेगी। उसकी भाषासे नहीं बोलें तो जनता कैसे समझेगी? हिन्दी भाषाको जाननेवाले हिन्दी भाषासे ही समझेंगे, दूसरी भाषासे कैसे समझेंगे? ....और पूछो!

साधक—कुछ शंका लाता हूँ तो आपके सामने आते ही आधी तो मिट जाती है!! पुस्तक पढ़ते-पढ़ते कोई बात ध्यानमें आती है तो इच्छा होती है कि स्वामीजीके पास जाकर पूछूँगा, पर आधी शंका तो आपके दर्शनसे मिट गयी, याद ही नहीं रही!! ......फिर याद आयेगी तो फिर आ जाऊँगा!

स्वामीजी—अभी प्रात: तीनसे पाँच बजेतकका हमारा समय एकान्तका है। जितने लेख लिखाये हैं,

इस समय ही लिखाये हैं। 'साधक-संजीवनी' भी प्रायः इस समय लिखी है!

साधक—विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश और सूर्य—ये जो पाँच आदिदेव हैं, इनमें देखा है कि भगवान् विष्णु ही अवतार लेते हैं। यशोदाजीको विष्णुरूपके ही दर्शन हुए, कौसल्याजीको भी विष्णुरूपके ही दर्शन हुए, ध्रुव आदिको भी विष्णुरूपके ही दर्शन हुए, तो मूलमें परमात्मा क्या विष्णुरूपमें ही हैं?

स्वामीजी—यह बात वैष्णवोंकी है। परमात्मा वैष्णवोंके लिये विष्णुरूप हैं, शैवोंके लिये शिवरूप हैं, गाणपतोंके लिये गणपतिरूप हैं, सौरोंके लिये सूर्यरूप हैं और शाक्तोंके लिये शक्तिरूप हैं। ये पाँचों रूप उपासनाके लिये हैं। **परमात्मतत्त्व वास्तवमें सच्चिदानन्दरूप है।**

साधक—सबसे उत्तम तो चुप-साधन ही है! उपनिषद्‌में आया है—'**यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥**' (कठोपनिषद् २। ३। १०) 'जब मनके सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ भलीभाँति स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि भी किसी प्रकारकी चेष्टा नहीं करती, उस स्थितिको परमगति कहते हैं।' परंतु परमात्माकी कृपा हो जाय......!

स्वामीजी—कृपा तो है!

साधक—है तो अवश्य! जितनी सरलता और जितना उत्साह साधकोंको आपके प्रवचनोंमें मिलता है कि प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह किसी जातिका हो, किसी समाजका हो, नारी हो, पुरुष हो, सब परमात्माकी प्राप्तिके अधिकारी हैं। दूसरी बात, कोई भी व्यक्ति स्वरूपसे दोषी नहीं है, सब निर्दोष हैं। दोष केवल आगन्तुक हैं। आपने ऐसी बड़ी जबर्दस्त बातें हमलोगोंको दी हैं!!

स्वामीजी—निर्दोषकी तो सत्ता है, पर दोषोंकी सत्ता नहीं है—'**आगमापायिनोऽनित्याः**' (गीता २। १४)। .... आप पुस्तक लाओ तो चर्चा करें। हम तो ऐसा चाहते हैं कि इसपर चर्चा चले। चर्चासे बहुत लाभ होता है। एकदम बातें खुल जाती हैं! कोई पूछे तो हम बहुत प्रसन्न होते हैं कि हमारी बात कोई सुनता तो है!!

साधक—आपकी एक-एक बात सत्य है! परंतु आपको वह जितनी सरल लगती है, उतनी हमें सरल लगती नहीं है; क्योंकि अभी हमारा संसारकी तरफ आकर्षण समाप्त नहीं हुआ है! आपकी बात हम समझते हैं कि यह बिल्कुल सही है, ऐसा ही होना चाहिये। इसमें मुझे भी सन्देह नहीं है; लेकिन जो बाधा आपने बतायी है कि जबतक संसारके सुखोंकी आसक्ति है, चाहना है, तबतक वह तत्त्व दूर है!

स्वामीजी—तत्त्व स्वतः-स्वाभाविक प्राप्त है। उसके लिये कोई उद्योग करनेकी जरूरत नहीं है; क्योंकि सब उद्योग प्रकृतिमें होता है। प्रकृतिसे अतीत तत्त्वमें उद्योग नहीं है, क्रिया नहीं है। क्रिया और पदार्थ सब प्रकृतिका कार्य है।

साधक—एक स्थानपर आपने लिखा है, प्रवचनमें कहा है कि ईश्वर ही है और यह जो संसार दीख रहा है, यह ईश्वरकी जगह ही दीख रहा है—इससे आपका अभिप्राय क्या है?

स्वामीजी—इसका मतलब यह है कि और जगह आये कहाँसे? और जगह है ही नहीं! जो कुछ दीख रहा है, वह परमात्माकी आभा है, आभास है। **मूलमें तत्त्व एक ही है**; जैसे—रस्सीमें किसीको साँप दीखता है, किसीको डण्डा दीखता है, किसीको छाया दीखती है, किसीको जलकी धारा दीखती है, किसीको टूटी हुई माला दीखती है, किसीको फटी हुई जमीन दीखती है, पर मूलमें रस्सी एक ही है।

साधक—संसारके बहनेके विषयमें आप नदीका उदाहरण देते हैं कि नदीका जल चाहे तटपर स्थिर दीखे, पर वह निरन्तर बह रहा है; लेकिन जिस आधारशिलापर वह बह रहा है, वह आधारशिला वहीं-

की-वहीं है।

स्वामीजी—आधारशिलामें कुछ फर्क पड़ता ही नहीं! नदीमें मैला पानी भी आता है, शुद्ध पानी भी आता है, कूड़ा-करकट भी आता है, मुर्दा भी बहता आ जाता है, पर आधारशिला ज्यों-की-त्यों रहती है। अधिष्ठान, आधार-तत्त्व ज्यों-का-त्यों रहता है। उसीसे सृष्टिकी उत्पत्ति होती है, उसीमें स्थिति होती है, उसीमें लीन होती है और उसीसे प्रकाशित होती है। इसलिये उसके अतिरिक्त कोई वस्तु है ही नहीं।

साधक—यह सृष्टि परमात्मामें है या परमात्मा सृष्टिमें व्यापक है?

स्वामीजी—दोनों बातें हैं; जैसे—मैं पूछूँ कि गला कण्ठीमें है या कण्ठी गलेमें है?

साधक—दोनों ही बातें सत्य हैं। कहनेमें फर्क है। वस्तुस्थिति एक ही है।

स्वामीजी—यही बात है। संसारमें परमात्मा है, परमात्मामें संसार है।

साधक—आपके प्रवचनोंमें वेदान्तके सिद्धान्त सहजगम्य, बुद्धिगम्य हो गये हैं। जैसे, संसार है ही नहीं—इस प्रकार संसारका अभाव मान लेना थोड़ी कठिनतासे समझमें आता है; क्योंकि मैं बैठा हुआ हूँ, आप विराजे हुए हैं—यह दीख रहा है; परंतु यह प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है—यह सरलतासे माना जा सकता है!

स्वामीजी—यही गीतामें कहा है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥
समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥

(गीता १३। २७-२८)

‘जो नष्ट होते हुए सम्पूर्ण प्राणियोंमें परमेश्वरको नाशरहित और समरूपसे स्थित देखता है, वही वास्तवमें सही देखता है; क्योंकि सब जगह समरूपसे स्थित ईश्वरको समरूपसे देखनेवाला मनुष्य अपने-आपसे अपनी हिंसा नहीं करता, इसलिये वह परम गतिको प्राप्त हो जाता है।’

—इन श्लोकोंकी आप ‘साधक-संजीवनी’ में टीका पढ़ो।

साधक—त्यागके सम्बन्धमें आप मुर्देका दृष्टान्त देते हैं कि मुर्दा शरीर, परिवार आदि सब कुछ छोड़कर चला जाता है और वापिस कभी उधर देखता भी नहीं कि क्या हो रहा है!

स्वामीजी—न तार है, न चिट्ठी है, न समाचार है!! परंतु इस त्यागसे मुक्ति नहीं होती। भीतरसे उनका सम्बन्ध-विच्छेद होना चाहिये। यही बात योगवासिष्ठमें चूड़ाला और शिखिध्वजके प्रसंगमें भी आयी है।

साधक—तत्त्व सबका ‘आधार’ तो है, पर ‘प्रकाशक’ कैसे हुआ—यह मुझे समझाइये।

स्वामीजी—एक वैज्ञानिक बात है। जितने भी रंग बनते हैं, सूर्यकी किरणोंसे बनते हैं। अतः सूर्य ही रंग बनानेवाला है और सूर्य ही रंग दिखानेवाला है! सूर्यके बिना रंग देख नहीं सकते। रंग बनते भी सूर्यसे हैं और दीखते भी सूर्यसे हैं। रंगको चाहे अग्निसे देखो, चाहे बिजलीसे देखो, किसीसे देखो, है तो सूर्यका प्रकाश ही।

साधक—वस्तुको हम नेत्रसे देखते हैं।

स्वामीजी—नेत्रको भी सूर्य ही प्रकाशित करता है।

साधक—आपकी हर बातके अन्तमें आता है कि 'यह था नहीं, है नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं'। अगर इतना विश्वास हमारा हो जाय तो निहाल हो जायँ! .... आपकी कृपा हो जाय!

स्वामीजी—कृपा है भगवान्‌की! .... चुप हो जाओ तो अपने-आप स्वरूपमें स्थिति होगी। क्रियासे प्रकृतिमें स्थिति होती है और क्रिया न करनेसे स्वरूपमें स्थिति होती है। .... **पिताकी सम्पत्ति प्राप्त करनेमें पुत्रको क्या प्रयत्न करना पड़ता है? ऐसे ही परमपिता परमात्माकी सम्पत्तिका अधिकारी होनेमें हमें क्या करना है? उसके लिये कुछ करना नहीं है। उसपर हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।**

**[भाद्रपद शुक्ल ९, वि०सं० २०४९, दिनांक ५.९.१९९२ को
प्रातः ३ बजे, मथानिया]**

(२)

स्वामीजी—जैसे हम कहते हैं कि सूर्य छिप गया तो वास्तवमें वह हमारी दृष्टिसे छिप गया, ऐसे ही परमात्मतत्त्व छिप गया तो हमारी दृष्टिसे छिप गया। वास्तवमें परमात्मतत्त्व छिप सकता ही नहीं। जब परमात्माके सिवाय कोई है ही नहीं तो फिर वह कैसे छिपे? किसके पीछे छिपे?

साधक—जो चिन्मात्र सत्ता है, उसकी नित्यप्राप्तिका तो थोड़ा आभास होता है कि वह मेरी इन्द्रियोंको, मेरे अन्तःकरणको प्रकाशित कर रहा है; लेकिन भगवान् रामको जहाँ याद करें, वहीं वे आ जायँ—यह कैसे?

स्वामीजी—वही तो प्रकट होते हैं!

**आदि अंत जन अनँत के, सारे कारज सोय।
जँहि जिव उर नहचो धरै, तँहि ढिग परगट होय॥**

भगवान् वहाँ (सब जगह) हैं, तभी तो प्रकट होते हैं! दूसरी बात, दो सत्ता कैसे रहेगी? एक तो आप चिन्मय सत्ता मानते हैं, और दूसरा, जहाँ भक्त निश्चय करे, वहीं भगवान् प्रकट हो जाते हैं तो दो सत्ता कैसे रहेगी? सत्ता तो एक ही है, दो नहीं हो सकती।

साधक—जैसे आपने बताया कि नाशवान्, अपरा प्रकृति भी भगवान्‌की शक्ति है, ऐसे ही मेरे विचारसे कोई ऐसी दिव्य शक्ति भी है, जिस रूपमें राम और कृष्ण दिव्यरूपमें आये हैं।

स्वामीजी—दिव्यरूपसे आये हैं तो उस सत्तामें क्या बाधा पड़ती है? आपकी शंका क्या है? जैसे, अग्नि सामान्यरूपसे सब जगह परिपूर्ण है, वह किसी जगह प्रकट हो जाय तो उस अग्निमें फर्क क्या पड़ता है? अग्नि एकदेशीय भी है और सर्वदेशीय भी है। अगर अग्नि हजार जगह प्रकट हो जाय तो भी वह वैसी-की-वैसी (सर्वव्यापक) ही रहती है। मधुसूदनाचार्य लिखते हैं—'**सच्चित्सुखैकवपुषः**' (गीता १५। १८) 'भगवान्‌की देह सत्-चित्-आनन्दरूप है'। गोस्वामीजी कहते हैं—

चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥

(मानस, अयोध्या० १२७। ३)

भगवान्‌की देह चिदानन्दमय है तथा सब विकारोंसे रहित है—इसको अधिकारी पुरुष ही जान सकते हैं, हरेक नहीं जान सकता। जैसे, 'श्रीमद्भगवद्गीता'—ऐसा लिखा हुआ हो तो इसको अक्षर जाननेवाला ही जान सकता है, हरेक नहीं जान सकता। अक्षर नहीं जाननेवालेको भी लकीरें तो वैसी-की-वैसी ही दीखती

हैं, पर लिखा क्या है—यह नहीं जानता। जिसको व्याकरणका ज्ञान है, वह तो 'श्रीमद्भगवद्गीता' शब्द कैसे बना है—यह भी जान लेगा। इसी तरह एक ही परमात्मा साकार, निराकार, सगुण, निर्गुण, द्विभुज, चतुर्भुज, सहस्रभुज आदि अनेकरूपोंसे है। उसके सिवाय दूसरी सत्ता आये कहाँसे?

साधक—जो सर्वव्यापक चिन्मात्र सत्ता है, उसमें तो दृढ़ता है कि सर्वदा होनेसे अभी भी है और सर्वव्यापक होनेसे हमारेमें भी है, पर भगवान् राम स्मरण करते ही आ जायँ—यह कैसे दृढ़ता करें?

स्वामीजी—**वे हैं, तभी तो आते हैं! जहाँ आप स्मरण करते हो, वहाँ उनकी सत्ता मौजूद है, तभी तो वे प्रकट होते हैं, नहीं तो स्मरण करनेसे कैसे प्रकट हो जायँ?**

साधक—स्मरण करनेसे वे आ जायँ, इसमें मुझे संशय है! जैसे, इन्द्रियोंको, अन्तःकरणको प्रकाशित करनेवाला कोई तत्त्व मुझमें है—यह तो निश्चय है।

स्वामीजी—उसके सिवाय दूसरी सत्ता कौन-सी है, यह आप बताओ। सत्ता तो एक ही है। दूसरी बात, '**वासुदेवः सर्वम्**' रहेगा तो उसमें क्या बाकी रहेगा? जड़-चेतन, सत्-असत् सब कुछ वे ही हैं—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९) तो दूसरी चीज आये कहाँसे? जैसे जल परमाणुरूपसे भी यहाँ है, बादलरूपसे भी वही है, भापरूपसे भी वही है, बर्फरूपसे भी वही है, वर्षाकी बूँदोंके रूपसे भी वही है, कोहरारूपसे भी वही है, ऐसे ही परमात्मा सब रूपोंसे है। परमात्माके सिवाय कुछ है ही नहीं।

भगवान्‌का शरीर भी दिव्य तब है, जब हमारी दृष्टिमें अदिव्य शरीर है। वास्तवमें अदिव्य तत्त्व है ही नहीं! 'वासुदेवः सर्वम्' में दीखनेवाला यह शरीर भी अदिव्य नहीं है! यह भी दिव्य है! हमारी मान्यतामें गलती है, उस तत्त्वमें गलती नहीं है। भगवान्‌के विराट्‌रूपको भी 'अव्यय' कहा है—'**दर्शयात्मानमव्ययम्**' (गीता ११। ४)।

साधक—उसकी एक अपरा प्रकृति नष्ट होनेवाली भी तो है?

स्वामीजी—**वह नष्ट नहीं होती, उसमें परिवर्तन होता है।** जलका भी रूप बदलता है, पर वह नष्ट नहीं होता।

साधक—बदलनेवाली वस्तुको असत् मानना पड़ेगा!

स्वामीजी—**बदलनेवाली वस्तुमें 'बदलना' असत् है, वस्तु असत् नहीं है।** वस्तुमें परिवर्तन होता है, उसका अभाव नहीं होता। तो फिर अभाव किसका होता है? वस्तुका परिवर्तन होनेपर पहले जो रूप दीखता है, वह अब नहीं दीखता तो हमारी दृष्टिमें उस रूपका अभाव हो गया। जैसे, जल भाप बनकर उड़ गया तो उसका जलरूपसे अभाव हो गया।

दीखनेवाली वस्तुमें परिवर्तन होना भगवान्‌की लीला है। परिवर्तन न हो तो वह लीला नहीं होगी; वह तो चित्र ही होगा! परिवर्तन होनेसे ही लीला होती है, नहीं तो लीला कैसे होगी?

साधक—वेदान्ती कहते हैं कि यह सब माया है, जिससे संसार न होते हुए भी प्रतीत हो रहा है। इसपर आपका क्या विचार है?

स्वामीजी—माया एक शक्ति है, जिसके कारण वह न होते हुए भी प्रतीत हो रहा है।

साधक—मेरी ऐसी धारणा थी कि जैसे सोनेमें टाँका लगकर गहना बनता है, सोनेमें टाँका लगाये बिना गहना बनता नहीं है, इसी तरहसे चिन्मात्र सत्ता अवतार लेती है।

स्वामीजी—उसीको तो माया कहते हैं! भगवान् स्वयं इस बातको स्वीकार करते हैं—'**प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया**' (गीता ४। ६) 'अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट

होता हूँ'।

साधक—जो सर्वथा अद्वैत तत्त्व है, उसमें थोड़ी-सी प्रकृतिकी हलचल आती है!

स्वामीजी—आपसे मैं बात करूँ तो आप जिस भाषाको समझते हैं, उस भाषासे कहूँ, तभी आप मेरी बात समझोगे। अगर मैं दूसरी भाषासे कहूँ तो आप कैसे समझोगे? इसलिये **भगवान् दुनियाके सामने आयेंगे तो दुनिया जिस दृष्टिसे देख सके, उस तत्त्वको वे स्वीकार करेंगे, तभी दुनिया देखेगी, नहीं तो कैसे देखेगी?**

साधक—उस समय वे इन्द्रियोंके विषय (देखना, करना आदि) हो जाते हैं? वेदान्त तो उस तत्त्वको मन-वाणीसे अगोचर कहता है!

स्वामीजी—बिल्कुल! **उनका अगोचरपना वैसा-का-वैसा ही रहता है और वे गोचर हो जाते हैं! जहाँ वे गोचर होते हैं, वहाँ अगोचरका अभाव नहीं होता।** अगर जल बर्फ हो जाय तो बर्फमें जलका अभाव नहीं होता।

*** *** ***

साधक—आपने कहा कि बदलनेकी क्रिया असत् है, वस्तु असत् नहीं है। इसका तात्पर्य क्या है?

स्वामीजी—बदलनेमें जो क्रिया हुई, उस क्रियासे वस्तु दूसरी दीखने लग गयी। जैसे, जल बर्फरूपसे हो गया तो बदलनेकी क्रियामें तो फर्क आया कि यह जलरूपमें नहीं है, बर्फरूपमें है, पर जलमें क्या फर्क हुआ? आप पाँच सेरका बर्फका ढेला हाथमें ले सकते हो, पर बहता हुआ पानी हाथमें कितना ले लोगे? पानी हाथमें नहीं आता, पर बर्फका ढेला हाथमें आ जाता है—यह परिवर्तन हुआ; परंतु जल-तत्त्वमें क्या परिवर्तन हुआ?

साधक—प्रकृति सत् है कि असत्?

स्वामीजी—**दोनोंसे विलक्षण है! उसको न सत् कह सकते हैं, न असत् कह सकते हैं।** उसको सत् इसलिये नहीं कह सकते कि वह बदलती है, और असत् इसलिये नहीं कह सकते कि उसकी सत्ता है। आपकी ताकत घटती-बढ़ती है, यह आपको खुदको मालूम होता है; परंतु आप उसको अपनेसे अलग करके बता सकते हो? नहीं बता सकते। इसलिये आपसे अलग ताकतकी सत्ता है ही नहीं। आप तो वे-के-वे ही रहते हो, पर शक्ति घटती-बढ़ती है। आप घटते-बढ़ते नहीं, प्रत्युत स्वयं सत्तारूपसे वही रहते हो। इसलिये प्रकृतिको भिन्न भी नहीं कह सकते, अभिन्न भी नहीं कह सकते; नित्य भी नहीं कह सकते, अनित्य भी नहीं कह सकते; साकार भी नहीं कह सकते, निराकार भी नहीं कह सकते; निर्गुण भी नहीं कह सकते, सगुण भी नहीं कह सकते। उसको किसी शब्दसे नहीं कह सकते—'**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।**' (तैत्तिरीयोपनिषद् २। ९) 'मनके सहित वाणी आदि समस्त इन्द्रियाँ जहाँसे उसे न पाकर लौट आती हैं।'; ***'मन समेत जेहि जान न बानी'*** (मानस, बाल० ३४१। ४)। तत्त्वका निराकरण कोई कर नहीं सकता।

परिवर्तन होनेपर भी उसको असत् कैसे कहें? परंतु वह रूप नहीं दीखता, इसलिये असत् कह देते हैं। परिवर्तन होनेपर भी सत्ता तो वही है, दूसरी सत्ता आयी ही नहीं! **वही-की-वही सत्ता दूसरे रूपमें दीखने लग गयी तो 'परिवर्तन असत् है'—यह भी नहीं कह सकते!**

मनुष्यसे यह भूल होती है कि वह संसारकी सत्ता मानकर उसको महत्ता दे देता है, जिससे वह बँध जाता है। महत्ता देता है सुखकी लोलुपताके कारण।

साधक—सत्ता भी तो सुखलोलुपताके कारण दी?

स्वामीजी—वास्तवमें एक क्रम 'उत्पत्ति' का होता है और एक क्रम 'अनुभव' का होता है। उत्पत्ति-क्रममें तो सत्ता पहले आयेगी, महत्ता पीछे आयेगी, पर अनुभव-क्रममें महत्ता पहले आयेगी, पीछे सत्ता आयेगी। जैसे, आदिमें अज्ञान है। अज्ञानका अर्थ ज्ञानका अभाव नहीं है, प्रत्युत अधूरे ज्ञानका नाम अज्ञान है। कुछ जानते हैं, कुछ नहीं जानते—इसका नाम अधूरा ज्ञान है। उस अज्ञानसे असत्‌की सत्ता आती है, फिर उससे आसक्ति होती है—यह क्रम है। परंतु साधकके लिये अज्ञान मिटानेकी जरूरत नहीं है, प्रत्युत आसक्ति मिटानेकी जरूरत है। आजकल वेदान्तका अध्ययन करनेवाले अज्ञान मिटानेका अथवा असत्‌की सत्ता मिटानेका उद्योग करते हैं; परंतु गीता कामना, आसक्ति मिटानेकी बात कहती है। इसलिये साधकके लिये गीताका सिद्धान्त बहुत बढ़िया है!

[भाद्रपद शुक्ल १०, वि०सं० २०४९, दिनांक ६.९.१९९२ को प्रातः ३ बजे, मथानिया]

***

६. चित्रकार और विचित्रकार

एक राजाने अपने शौकसे बहुत बढ़िया महल बनाया। महल बनकर तैयार हुआ तो उसमें कारीगरीके लिये दो आदमी बुलाये गये। राजाने पूछा तो एकने कहा कि मैं 'चित्रकार' हूँ, और दूसरेने कहा कि मैं 'विचित्रकार' हूँ, आप चित्र बनवाकर देख लो। राजाने दोनोंको दीवारपर चित्र बनानेके लिये कह दिया। दोनोंने कमरेके बीचमें परदा लगवा दिया कि जबतक चित्र तैयार न हो, तबतक उसको कोई देखे नहीं। एक दीवारपर चित्रकारने बहुत सुन्दर रंग-बिरंगे चित्र बनाने शुरू कर दिये। उसके सामनेकी (परदेके पीछेकी) दीवारपर विचित्रकारने दीवारको साफ करना शुरू कर दिया। चित्रकारने तो दीवारको रंग-बिरंगे चित्रोंसे सजा दिया और विचित्रकारने दीवारको दर्पणकी तरह साफ कर दिया। जब बीचका परदा हटाया गया तो चित्रकारके बनाये चित्र सामनेकी दीवारपर ज्यों-का-त्यों दीखने लग गये! विचित्रकारी यह थी कि दोनोंका मिलान करनेपर उनमें कोई फर्क नहीं दीखा! दोनों बराबर ही दीखे।

इसी तरह दो मार्ग हैं—ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग। भक्तिमार्गमें भक्त 'चित्रकार' है, जो जगत्‌को भगवत्स्वरूप देखता है। उसकी दृष्टिमें परमात्माके सिवाय कोई चीज है ही नहीं। ज्ञानमार्गमें ज्ञानी 'विचित्रकार' है, जो संसारका निषेध करके साफ कर देता है। उसकी दृष्टिमें संसार है ही नहीं, हुआ ही नहीं, हो सकता ही नहीं। विवेकमार्गमें संसारका अत्यन्त अभाव है, केवल एक सच्चिदानन्द ब्रह्म है। भक्तमें भाव (श्रद्धा-विश्वास)-की और ज्ञानीमें विचार (विवेक)-की प्रधानता होती है। **भावकी प्रधानतावाला साधक भक्तिमार्गी होता है, और विवेककी प्रधानतावाला साधक ज्ञानमार्गी होता है।**

जो दीखता है, सब साक्षात् भगवान् हैं—इस प्रकार चित्रकारी करना भक्तका काम है। सब कुछ भगवान् ही हैं—यह भक्तिमार्ग है। संसार दीखता है, पर वास्तवमें है ही नहीं। संसारका अत्यन्त अभाव है—यह विवेकमार्ग है। भक्त कहता है—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९), और ज्ञानी कहता है—'**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' (छान्दोग्य० ३। १४। १)। दोनोंकी चित्रकारी बराबर दीखनेका तात्पर्य है कि मुक्ति दोनोंकी हो जाती है—

भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥

(मानस, उत्तर० ११५। ७)

एक परमात्माके सिवाय दूसरी कोई सत्ता है ही नहीं—इसमें दोनों एक हैं, पर भक्तिमें एक प्रेम पैदा होता है कि जो दीखता है, वह साक्षात् भगवान् हैं! वह सबमें भगवान्‌को देख-देखकर प्रसन्न होता है। भक्तको मुक्तिके साथ परमप्रेमकी प्राप्ति भी हो जाती है—यह भक्तिकी विलक्षणता है!

ज्ञानयोग और कर्मयोग साधन हैं, पर भक्तियोग साध्य है। ज्ञानमें सम, शान्त, अखण्ड आनन्द है, पर भक्तिमें प्रतिक्षण वर्धमान आनन्द है। विवेकप्रधान साधनमें **'वासुदेवः सर्वम्'** नहीं होता। कारण कि विवेकमें सत् और असत् दो होते हैं; अतः साधक असत्‌का निषेध करके सत्‌की स्थापना करता है। असत्‌का निषेध होनेपर शान्त, अखण्ड आनन्दका अनुभव होता है। परंतु भक्तिमें सबमें भगवान्‌को देखनेसे एक विशेष प्रेमरस बढ़ता है। इसलिये भक्तिको अद्वैतसे भी सुन्दर कहा गया है—

द्वैतं मोहाय बोधात्प्राग्जाते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥
पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे।
तादृशी यदि भक्तिः स्यात्सा तु मुक्तिशताधिका॥

(बोधसार, भक्ति० ४२-४३)

'बोधसे पहलेका द्वैत मोहमें डाल सकता है; परंतु बोध हो जानेपर भक्तिके लिये कल्पित (स्वीकृत) द्वैत अद्वैतसे भी अधिक सुन्दर (सरस) होता है। वास्तविक तत्त्व तो अद्वैत ही है, पर भजन (प्रेम)-के लिये द्वैत है। ऐसी यदि भक्ति है तो वह मुक्तिसे भी सौगुनी श्रेष्ठ है।'

'वासुदेवः सर्वम्' भक्तिमें ही है। विवेकमार्गमें **'वासुदेवः सर्वम्'** नहीं होता; क्योंकि इसमें असत्‌का त्याग करनेसे त्याज्य वस्तुके संस्कार रहते हैं। इसलिये असत्‌की सत्ता बहुत दूरतक रहती है। असत्‌की सत्ता रहनेसे मुक्ति भी जल्दी नहीं होती। परंतु भक्तिमें त्याज्य वस्तु कोई है ही नहीं! भक्तिमें सत्-असत् सब भगवान् ही हैं—**'सदसच्चाहमर्जुन'** (गीता ९। १९)। विवेकमार्गमें त्याज्य वस्तुकी सत्ता रहनेसे साधक विवेकका भोगी होता है। जबतक विवेकका भोगी रहता है, तबतक वह अज्ञानका भोगी भी बन सकता है। तात्पर्य है कि ज्ञानमें थोड़ी भी कमी रहनेसे मुक्तिमें बाधा लग सकती है, पर भक्तिमें कमी रहती ही नहीं! कारण कि भक्तिमार्गमें असत् (दूसरी सत्ता) है ही नहीं, प्रत्युत सब कुछ परमात्मा ही हैं। इसलिये भक्तका पतन नहीं होता, वह योगभ्रष्ट नहीं होता। भक्तिमें पतनकी सम्भावना ही नहीं रहती और बहुत जल्दी काम बनता है। यह विशेषता भक्तिमार्गमें ही है!

भक्त बिल्लीके बच्चेके समान और ज्ञानी बँदरीके बच्चेके समान है। बिल्लीके बच्चेको तो माँ खुद पकड़ती है, पर बँदरीका बच्चा खुद माँको पकड़ता है। इसलिये ज्ञानीके लिये भगवान् कहते हैं—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

(गीता १२। ५)

'अव्यक्तमें आसक्त चित्तवाले उन साधकोंको (अपने साधनमें) कष्ट अधिक होता है; क्योंकि देहाभिमानियोंके द्वारा अव्यक्तविषयक गति कठिनतासे प्राप्त की जाती है।'

परंतु भक्तके लिये भगवान् कहते हैं—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।

भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(गीता १२। ७)

'हे पार्थ! मुझमें आविष्ट चित्तवाले उन भक्तोंका मैं मृत्युरूप संसार-समुद्रसे शीघ्र ही उद्धार करनेवाला बन जाता हूँ।'

काहू के बल भजन कौ, काहू के आचार।
'व्यास' भरोसे कुँवरि के, सोवत पाँव पसार॥

[वैशाख शुक्ल ९, वि०सं० २०६१, दिनांक २९.४.२००४ को प्रातः ५ बजे, गीताभवन, स्वर्गाश्रम, ऋषिकेशमें दिये गये प्रवचनसे]

***
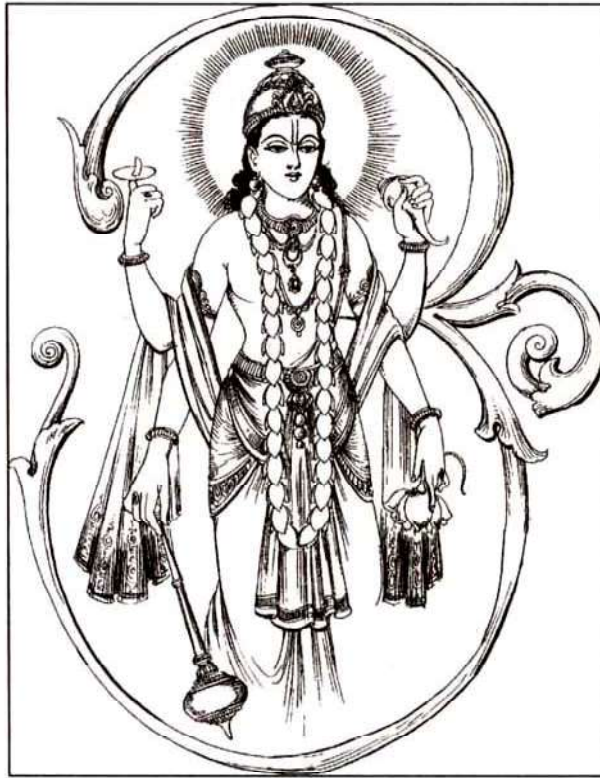
॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

जाग्रत्-अवस्थामें भी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों अवस्थाएँ होती हैं; जैसे—मनुष्य जाग्रत्-अवस्थामें बड़ी सावधानीसे काम करता है, तो यह जाग्रत्में जाग्रत्-अवस्था है। जाग्रत्-अवस्थामें मनुष्य जिस कामको करता है, उस कामके अलावा अचानक जो दूसरी स्फुरणा होने लगती है, वह जाग्रत्में स्वप्न-अवस्था है। जाग्रत्-अवस्थामें कभी-कभी काम करते हुए भी उस कामकी तथा पूर्वकर्मोंकी कोई भी स्फुरणा नहीं होती, बिलकुल वृत्तिरहित अवस्था हो जाती है, वह जाग्रत्में सुषुप्ति-अवस्था है।

कर्म करनेका वेग ज्यादा रहनेसे जाग्रत्-अवस्थामें जाग्रत् और स्वप्न-अवस्था तो ज्यादा होती है, पर सुषुप्ति-अवस्था बहुत थोड़ी होती है। अगर कोई साधक जाग्रत्की स्वाभाविक सुषुप्तिको स्थायी बना ले तो उसका साधन बहुत तेज हो जायगा; क्योंकि जाग्रत्-सुषुप्तिमें साधकका परमात्माके साथ निरावरणरूपसे स्वतः सम्बन्ध होता है। ऐसे तो सुषुप्ति-अवस्थामें भी संसारका सम्बन्ध टूट जाता है; परन्तु बुद्धि-वृत्ति अज्ञानमें लीन हो जानेसे स्वरूपका स्पष्ट अनुभव नहीं होता। जाग्रत्-सुषुप्तिमें बुद्धि जाग्रत् रहनेसे स्वरूपका स्पष्ट अनुभव होता है।

यह जाग्रत्-सुषुप्ति समाधिसे भी विलक्षण है; क्योंकि यह स्वतः होती है और समाधिमें अभ्यासके द्वारा वृत्तियोंको एकाग्र तथा निरुद्ध करना पड़ता है। इसलिये समाधिमें पुरुषार्थ साथमें रहनेके कारण शरीरमें स्थिति होती है; परन्तु जाग्रत्-सुषुप्तिमें अभ्यास और अहंकारके बिना वृत्तियाँ स्वतः निरुद्ध होनेके कारण स्वरूपमें स्थिति होती है अर्थात् स्वरूपका अनुभव होता है। *(साधक-संजीवनी १८। १२ टि०)*